"समाज-आर्थिक इतिहास के अध्ययन में विष्णु-पुराण का महत्त्व"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की
इतिहास विषय में "डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी"
की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोधार्थी

श्याम मनोहर

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी

निर्देशक
डॉ. आनन्द शंकर सिंह
रीडर, प्राचीन इतिहास
ईश्वर शरण महाविद्यालय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

सह—निर्देशक
डॉ. कैलाश खन्ना
रीडर, इतिहास विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय,
झाँसी

युग अवतार मेहेर बाबा

तथा

परम पूज्य पिताजी स्व. श्री जोधेराम

एवं

पूज्यनीया माताजी श्रीमती रामकुँवर देवी

के

श्री चरणों में

शत्-शत् नमन के साथ

सादर समर्पित।

श्याम मनोहर

निर्देशक
डॉ. आनन्द शंकर सिंह
डी.फिल्.
उपाचार्य प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवम् पुरातत्त्व विभाग
ईश्वर शरण महाविद्यालय,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

दूरभाष : 0532-2421415
: 9415324671
निवास : 112बी/1 अशोक नगर,
इलाहाबाद।

मार्च, 2005

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि शोधार्थी श्याम मनोहर, बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से अपना अनुसंधान कार्य *''समाज-आर्थिक इतिहास के अध्ययन में विष्णु पुराण का महत्त्व''* शोध शीर्षक पर मेरे तथा सह-निर्देशक डॉ. कैलाश खन्ना के मार्गदर्शन में पूर्ण किया है। हम यह भी प्रमाणित करते है कि :-

- कार्य मौलिक है।
- आपने शोध प्रस्तुत करने हेतु न्यूनतम निर्धारित अवधि पूर्ण कर लिया है।
- आपके ऊपर बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी का कुछ भी देय अवशेष नहीं है।
- हमने उक्त प्रबन्ध शोध समिति के निर्देशानुसार ही पूर्ण कराया है।

अतएव उपरोक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में हम इस शोध-प्रबन्ध के मूल्यांकन की प्रबल संस्तुति एवम् अनुशंसा करते हैं तथा शोधार्थी के मंगलमय् भविष्य की कामना करते हैं।

(डॉ. कैलाश खन्ना)
सह-निर्देशक

(डॉ. आनन्द शंकर सिंह)
निर्देशक

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध कार्य विष्णु पुराण से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं के उठाने से सम्बन्धित है। पुराणों पर कार्य करना अत्यन्त ही रोचक तथा चित्ताकर्षक है यद्यपि पुराणों की एक निश्चित तिथि तथा किसी भी पुराण लेखन की अवधि को निर्धारित करना एक दुष्कर प्रयास होता है, तथापि साक्ष्यों एवं पुराण परम्परा के अनुसार इनका तिथि निर्धारण किया जाता है। पुराणों में वैदिक प्रवृत्ति का ही समुपवृंहण प्राप्त होता है। पुराणों पर अनेक उत्कृष्ट शोध कार्य तथा शोध निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी पुराणों पर कार्य करना एक नवीन उत्साह का संचार करने वाला होता है। आर.सी. हाजरा से लेकर प्रो० एस.एन. राय ने पुराणों की गुत्थियों को सुलझाने का सहज प्रयास किया है। इसी कड़ी को आगे बढ़ाते हुए हमने भी विष्णु पुराण के क्षेत्र में कार्य करने का निर्णय किया। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विष्णु पुराण की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का विशद विवेचन किया गया। सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय तिथि से सम्बन्धित है जिसमें विभिन्न मत-मतान्तरों एवं अन्तः तथा बाह्य साक्ष्यों का समवेत अनुशीलन किया गया और एक साामान्य निष्कर्ष तक पहुंचने का प्रयास किया गया है। द्वितीय अध्याय में सामाजिक वर्गीकरण के विविध पहलुओं पर विस्तार से साक्ष्यों को विमर्शित किया गया है। तृतीय अध्याय में विष्णु पुराण में वर्णित एक नवीन सामाजिक व्यवस्था जिसमें वर्णसंकर के

स्थान पर कर्मसंकरता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, का सम्यक् अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है। इसी अध्याय में आश्रम, संस्कार, गीत–संगीत आदि कतिपय अन्य गतिविधियों पर चर्चा की गयी है। वहीं पर चतुर्थ अध्याय में नारी दशा से सम्बन्धित बहुआयामी चित्र प्रस्तुत हुआ है। पॉचवे अध्याय के माध्यम से तत्कालीन अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण पक्षों को प्रकाशित करने की चेष्टा की गयी है। सम्पूर्ण शोध में प्राचीनतम तथा नवीनतम दोनों प्रकार के साक्ष्यों का सम्यक् प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की इतिहास विषय में 'डॉक्टर ऑफ फिलासफी' उपाधि प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। इस शोध प्रबन्ध की आधारशिला रखने के लिए सर्वप्रथम बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की शोध समिति (Research Degree Committed) बधाई के पात्र हैं, जिसने प्रथम दृष्ट्या शोध की रुपरेखा/ अनुक्रमणिका अनुमोदित करके अनुसंधान कार्य हेतु मार्ग प्रशस्त कर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है।

प्रत्येक नवीन कार्य के लिए कोई न कोई प्रेरणा श्रोत अवश्य हुआ करता है। मेरी कक्षा 6 से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक समस्त शैक्षिक उपलब्धियों का श्रेय पूजनीय बड़े भाई साहब श्री एच0एस0 राव, जो कि लोक सेवा आयोग से आई.सी.सी. पद पर स्वास्थ्य विभाग झाँसी मण्डल में कार्यरत हैं, को जाता है। क्योंकि आपने मुझे सदैव ही अधिकाधिक उच्चतर शैक्षिक उपलब्धियाँ हासिल करने के लिए प्रेरित किया

एवं अनुसंधान कार्य करने हेतु प्रेरित करने के लिए प्रथम प्रेरणा श्रोत अंकुरित करने का श्रेय मुख्य रूप से परम पूज्य गुरूदेव डॉ0 आनन्द शंकर सिंह जी को, जो कि इतिहास विभाग में रीडर हैं, को जाता है। मैंने इतिहास विषय में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की तभी से मेरे मन में प्रवल जिज्ञासा तथा उत्कण्ठा थी कि मैं भी डॉक्ट्रेड की उपाधि हासिल करूँ। इस जिज्ञासा के वशीभूत होकर अपने गुरूदेव डॉ0 आनन्द शंकर सिंह जी, एम.ए., डी.फिल्. रीडर, इतिहास विभाग, ईश्वर शरण महाविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद तथा डॉ0 कैलाश खन्ना, रीडर, इतिहास विभाग, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से शोध शीर्षक चयन हेतु कराकर आप दोनों हमारी रूचि का शीर्षक ही अनुमोदित ही नहीं किया अपितु दोनों ने ही मेरा मार्ग निर्देशन भी सहज ही स्वीकार कर लिया जिसके लिए आभार प्रकट करना मेरा पुनीत दायित्व व कर्तव्य है। बस फिर क्या था, अपने अनुसंधान कार्य हेतु ताना बाना बुनने विषय सामग्री जुटाने विष्णु पुराण की समीक्षाएं एवं सिंहावलोकन (रिव्यू) करने के उद्देश्य से मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद तथा बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय भेजा। कृतज्ञता ज्ञापन एवं विशेष आभारी हूँ अपने दोनों गुरूजनों का जिन्होंने उचित मार्ग दर्शन कर आज का स्वर्णिम दिन दिखाया है।

शोधार्थी विभिन्न विषय विशेषज्ञोंः डॉ0 एम0पी0 सिंह प्राचार्य, ईश्वर शरण महाविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, प्रो0 एस0एन0 राय पूर्व विभाग अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, इलाहाबाद

विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, डॉ0 राजेन्द्र सिंह, रीडर एवं विभागाध्यक्ष (भूगोल) बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी, श्रीमती श्रुति आनन्द, शोधार्थिनी बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी, डॉ0 राम शरण मिश्र, प्रबन्धक श्री जे0पी0 शर्मा इण्टर कालेज बबेरू, डॉ0 जे0पी0 श्रीवास्तव, प्रधानाचार्य श्री जे0पी0 शर्मा इण्टर कालेज बबेरू एवं समस्त शिक्षक साथियों का भी आभारी हूँ जिन्होंने मेरी विभिन्न प्रकार की समस्याओं का निराकरण कर मेरा उत्साहवर्द्धन किया।

अन्त में, लेकिन कम आभारी नहीं हूँ अपने परिजनों का जिन्होंने शोध के अन्तराल में मुझे पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन से मुक्त रखा। विशेष आभार एवं कृतज्ञता ज्ञापन व धन्यवाद उन समस्त सूचना दाताओं का जिन्होंने प्रथम दृष्ट्या निःसंकोच अपने व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी सूचनाएं प्रदान कर मेरे अध्ययन को पूरा करने में मेरी आद्योपान्त सहायता की है। साथ ही उन समस्त महानुभावों जिनके नामों का उल्लेख पृथक से करना यहाँ सम्भव नहीं हो सकता है, को पुनः-पुनः धन्यवाद के साथ जिन्होंने मेरी आधी अधूरी कंटीली राह को अवलोकित कर जाज्वल्यमान बनाया है।

(श्याम मनोहर)

अनुक्रमणिका

अध्याय — 1

विष्णु पुराण की तिथि

विष्णु पुराण की तिथि

पुराणों की तिथि का निर्धारण अत्यन्त दुष्कर कार्य है, क्योंकि पुराणों में कथानकों का इतना विस्तृत आयाम है कि उन्हें किसी काल विशेष की सीमा में बाँधना दुःसाध्य है। घटनाओं के वर्णन में कविरायत्काल का प्रयोग हुआ है, यद्यपि किञ्चित स्थल वर्तमान काल का भी बोध कराते हैं। पुराणों की तिथि या अन्य कुछ भी निर्धारित करने हेतु पुराण विशेष का कम वरन् पुराण परम्परा को ध्याख्य बनाना अत्यधिक श्रेयस्कर होता है। यदि विष्णु पुराण के अन्तः साक्ष्यों में आधार पर ही इसकी तिथि निर्धारण का प्रयास किया जाय तो भी कई संभावनायें जन्म लेती हैं। एक स्थल पर पुराणकार कहता है कि – "तदनन्तर कुरूकुल के क्षीण हो जाने पर जो अश्वत्थामा के प्रहार किए हुए, ब्रह्शास्त्र के द्वारा गर्भ में ही भस्मीभूत हो चुका था किन्तु फिर जिन्होंने अपनी इच्छा से ही माया मानव देह धारण किया है, उन सकल सुरासुवन्दितचरणारविन्द श्रीकृरूणचन्द्र के प्रभाव से पुनः जीवित हो गया। उस परीक्षित ने अभिमन्यु के द्वारा उत्तरा के गर्भ से जन्म लिया, जो इस समय इस प्रकार धर्मपूर्वक सम्पूर्ण भू–मण्डल का शासन कर रहा है, जिससे भविष्य में उसकी सम्पत्ति क्षीण न हो।"[1] इस प्रकार ऐतिहासिक अवधारणा की

दिशा में यदि परम्परा के महत्व को अश्रद्धेय अथवा अग्राह्य नहीं माना जाये तो सामान्यतया यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विष्णु पुराण की रचना परीक्षित के काल में हुई थी। इस प्रकार एक अन्य स्थान पर पुरूवंशीय राजाओं का वर्णन करते हुए, पुराणकार नृप दवापि तथा इच्वाकुकुल में उत्पन्न हुए पुरू नामक नरेश का उल्लेख करता है। पुराणकार के अनुसार ये दोनों राजा अत्यन्त योगबल–सम्पन्न हैं, कलापग्राम में रहते हैं और सतयुग का आरम्भ होने पर पुनः वे लोग मृत्यु लोक में आकर क्षत्रिय–कुल के प्रवर्तक होगें, वे आगामी मनुवंश के बीजरूप हैं।[2] यहाँ पर य उल्लेखनीय है कि पुराणकार का उपयुर्क्त कथन भी भविष्य काल में न होकर वर्तमान काल में है।

पुराण के उक्त अंतःसाक्ष्य के आधार पर एक सहज अवधारणा बनायी जा सकती है कि विष्णु पुराण की रचना बहुत पहले आलोचित पुराण में निबन्धित परम्परा त्रेता युग में हुई होगी। वस्तुस्थिति यह नहीं है, विष्णु पुराण एक ही स्थान पर अठारहों अन्य पुराणों का उल्लेख करता है,[3] इससे यही प्रमाणित होता है कि विष्णु पुराण के वर्तमान कलेवर का निर्माण तब हुआ होगा, जब अन्य पुराण अपने वर्तमान कलेवर में प्रायः प्रतिष्ठित हो चुके होंगे। इस प्रकार अन्तः साक्ष्य के आधार पर ही इसके उपलब्ध स्वरूप की उत्तरकालीनता का बोध होने लगता है। यही कारण है

कि किसी निश्चित साक्ष्य के अभाव में विद्वानों ने विष्णु पुराण के तिथि का निर्धारण अलग-अलग प्रकार से किया है। यथा-

पार्जिटर के अनुसार, विष्णु पुराण की रचना एक ही समय में हुई थी न कि अलग-अलग कालों में, जैसा कि वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण के सम्बन्ध में हुआ है। पुराण अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध और जैन धर्म के ऊपर ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व स्थापित होने के बाद ही, इस पुराण की रचना लगभग 5वीं शताब्दी में हुई होगी।[4]

फ़र्क्यूहर ने हरिवंश को भागवत सम्प्रदाय से सम्बन्धित पुराण माना है और विष्णु पुराण को वैष्णव सम्प्रदाय की पांचरात्र शाखा से सम्बन्धित होने की परिकल्पना की है। फ़र्क्यूहर के अनुसार दोनों ही पुराणों में हल्लीस नामक नृत्य की एक शैली का उल्लेख मिलता है। उनके अनुसार हल्लीस नृत्य का उल्लेख भासकृत बालचरित नामक नाटक में हुआ है जो तृतीय शताब्दी का माना जाता है। इसके अतिरिक्त विष्णु पुराण के अन्तर्गत जो बाल कृष्ण की लीलाएं संक्षिप्त रूप में मिलती हैं, वे हरिवंश में विस्तृत हो गयी हैं। चूंकि इन पुराणों में हल्लीस नामक नृत्य की इस विद्या का उल्लेख प्राप्त होता है और भासकृत बाल चरित्र में, जो तृतीय शताब्दी का है, इस विद्या का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है, अतः उनके अनुसार इस पुराण का रचना-काल चौथी शताब्दी होना सिद्ध होता है।[5]

पार्जिटर के मत का समर्थन करते हुए विण्टरनित्ज ने भी विष्णु पुराण का काल पाँचवी शताब्दी होना स्वीकार किया है।[6] विष्णु पुराण में कैंक्डिल[7] नामक यवनों का उल्लेख करते हुए पुराणकार कहता है कि यवन राजाओं के तीन सौ वर्ष तक पृथ्वी भोग लेने के पश्चात कैक्डिल नामक यवन जातीय अभिषेक-विहीन राजा होगें। सी0 वी0 वैद्य के अनुसार पुराणों में उल्लिखित कैलकिल या कैक्डिल नामक यवनों ने 575 से 900 ई0 के बीच आंध्र पर राज्य किया था। ये यवन 782 ई0 के करीब अपने प्रताप की चरम सीमा पर थे।[8] इसी आधार पर वैद्य ने पुराण का काल 9 वीं शताब्दी निश्चित किया है।[9]

आर0 सी0 हाजरा के मतानुसार विष्णु पुराण वैष्णव धर्म के पांचरात्र सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं तथा इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित समस्त पुराणों में इसका स्थान सर्वोपरि है। उनके अनुसार आदि से लेकर अन्त तक केवल वैष्णव धर्म का प्रतिपादन, इस पुराण को विशिष्टता प्रदान करती है। वैष्णव पुराणों में सर्वत्र पांचरात्र सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उल्लेख किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। शान्ति पर्व के नारायणीय खण्ड में पांचरात्र के सिद्धान्तों का उल्लेख है।[10] विष्णु, ब्रह्म, भागवत, पद्य, उत्तर आदि पुराणों[11] में इस परम्परा के महत्वपूर्ण अंग चतुर्व्यूह का उल्लेख है। कूर्म्मपुराण में पांचरात्र पूर्णतः विकसित अवस्था में दिखाई देता है। हाजरा का मत है कि कूर्म पुराण अपने रचना काल की दो अवस्थाओं

को प्रतिबिम्बित करता है, प्रथम पांचरात्र के रूप में, जिसकी रचना 550 ई0 से लेकर 650 ई0 के मध्य हुई होगी, द्वितीय पीछे चलकर 700 से 800 ई0 के मध्य संशोधित होकर पाशुपत रूप में। हाजरा कूर्म पुराण को विष्णु पुराण से परवर्ती मानते हुए विष्णु पुराण का काल चौथी शताब्दी के मध्य निर्धारित करते हैं।[12]

इस प्रकार दूसरी शताब्दी ईसवी[13] और तृतीय शताब्दी[14] से लेकर नवीं शताब्दी तक की तिथि विष्णु पुराण के संदर्भ में, एक उलझन उत्पन्न करती है। यदि तिथि निर्धारण के संदर्भ में अर्द्ध शताब्दी या शताब्दी का भी अन्तर रहता तो निश्चित प्रमाण के अभाव में, विष्णु पुराण से सम्बन्धित उस तिथि को स्वीकार किया जा सकता था। किन्तु तिथि से सम्बन्धित पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सीमा में 800 वर्षो का अन्तर हमें बाध्य करता है कि विष्णु पुराण की तिथि का निर्धारण एक अलग वैज्ञानिक ढंग से किया जाये।

विष्णु पुराण में सृष्टि के जीवों का विवेचन करते हुए अट्ठाईस प्रकार के वधों का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णु पुराण के अनुसार ये सब अहंकारी, अभिमानी अट्ठाईस वधों से युक्त आन्तरिक सुख को ही समझने वाले और परस्पर एक दूसरे की प्रवृत्ति को न जानने वाले हैं। बाध शब्द का यहाँ पर शाब्दिक अर्थ हत्या नहीं लिया गया है अपितु लाक्षणिक अर्थ व्यक्ति की अशक्ति के रूप में लिया गया है। सांख्यदर्शन

में इन अट्ठाईस प्रकार के बधों अथवा अशक्तियों का व्यापक विवेचन किया गया है। सांख्य दर्शन के अनुसार पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन, ये कुल ग्यारह इन्द्रिय बाध एवं तुष्टि और सिद्धि के विपमर्य से सवत्रह बुद्धि बध ये समस्त अट्ठाईस बध कहे जाते हैं।[15] बहरापन, स्पर्श शक्ति का नाश, अन्धापन, जिह्वा शक्ति का नाश, ज्ञानेन्द्रिय की कमजोरी, गूंगापन, लूलापन, लंगड़ापन, नपुंसकता, पुरीष-शक्ति का नाश एवं मानसिक शक्ति का नाश, ये इन्द्रिय बाध है, इसके अलावा इन ग्यारह बाधों के साथ-साथ सत्रह बुद्धि के बाध होते हैं। यहां पर उल्लेखनीय है कि श्री ईश्वर कृष्ण ने अपनी सांख्य-कारिका में जहाँ अट्ठाईस प्रकार के बाधों पर व्यापक विवेचन किया है वहीं विष्णु पुराण में अट्ठाईस बाधों का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

इससे यह प्रतीत होता है कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित अट्ठाईस प्रकार के बाधों की अवधारणा, पूर्ण रूप से प्रचारित हो चुकी थी और यह विद्वत् समाज द्वारा पूरी तरह से स्वीकार कर ली गयी थी। यही कारण है कि विष्णु पुराण में बाधों का संकेत अथवा उल्लेख मात्र से ही पुराणकार को यह विश्वास था कि लोग इसके वास्तविक अर्थ और गन्तव्य को ग्रहण कर लेंगे। निश्चय ही यह सांख्य कारिका के रचना के बहुत बाद ही स्थिति का परिचायक है। कालीदास भट्टाचार्य ने ईश्वर कृष्ण और उनकी सांख्य-कारिका के काल का निर्धारण तीसरी शताब्दी ईसवीं किया है।[16]

सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त के अनुसार भी सांख्य कारिका का काल लगभग तीसरी शताब्दी ईसवीं है।[17] परमार्थ नाम के एक बौद्ध भिक्षु ने इस ग्रंथ पर चीनी भाषा में छठवीं शताब्दी ई0 में भाष्य लिखा था।[18] वेलव लकर महोदय ने स्थापना की है कि ईश्वर कृष्ण, बौद्ध दार्शनिक वसुबन्ध से पूर्ववर्ती थे।[19] वसुबन्धु का समय पाँचवी शताब्दी ईसवीं निर्धारित किया गया है।[20] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर कृष्ण पाँचवी शताब्दी के पूर्वार्ध या चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए होंगे। चन्द्रधर शर्मा ने ईश्वर कृष्ण का काल पाँचवी शताब्दी ईसवीं माना है।[21] किसी के द्वारा प्रतिपादित अवधारणा को सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होने में, विशेषतः उस काल में, जबकि प्रचार एवं प्रसार से सम्बन्धित सुविधाओं का सर्वत्र अभाव था, निश्चय ही कई शताब्दियाँ लगी होंगी। इस आधार पर विष्णु पुराण पाँचवी शताब्दी ईसवीं के बाद की रचना सिद्ध होती है। विष्णु पुराण में अनेक ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं, जिनसे विष्णु पुराण पर सांख्य दर्शन के असीम प्रभाव का पता चलता है।[22]

भविष्य पुराण में वराहमिहिर से सम्बन्धित आख्यान में कहा गया है कि ज्योतिषशास्त्र के प्रवर्तक वराहमिहिराचार्य ने लंका में जाकर ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त किया था। जिन जातक, फलित, मूक, प्रश्नादि को म्लेच्छों द्वारा विनष्ट कर दिया गया था, उसका उन्होंने फिर से उद्धार किया।[23] साम्बपुराण में भी वराहमिहिर की बृहत्संहिता की चर्चा करते हुए

साम्बपुराणकार ने सूर्य, विष्णु आदि की प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। भविष्यपुराण और साम्बपुराण दोनों का ही समय विद्वानों ने सातवीं, आठवीं शताब्दी प्रमाणित किया है। अतः इन सभी से सिद्ध होता है कि वराहमिहिर निश्चित रूप से छठवीं शताब्दी ई0 तक हो चुके थे। नेमिचन्द्र शास्त्री,[24] राधा कमल मुकर्जी[25] तथा उदय नारायण राय[26] ने भी छठवीं शताब्दी में वराहमिहिर का होना स्वीकार किया है। इस प्रकार इससे यह सिद्ध होता है कि विष्णु पुराण छठवीं शताब्दी के बाद कभी लिखा गया होगा।

विष्णु पुराण में धार्मिक तिथियों के महत्व की चर्चा बार-बार की गयी है। इन धार्मिक तिथियों का महत्व इतना था कि इन तिथियों पर सम्पन्न किए गए कार्यो की सिद्धि अथवा मनोवांछित फल की प्राप्ति निश्चित थी। यही नहीं इन तिथियों पर इस पुराण का पाठ करने से गोदान के बराबर फल की प्राप्ति होती है, ऐसा विष्णु पुराण में बताया गया है।[27] चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा और सूर्य की संक्रान्ति को पावन पर्व बताया गया है।[28] ज्येष्ठ मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी के महत्व का वर्णन करते हुए पुराणकार कहता हैकि इस दिन मथुरापुरी में उपवास करते हुए यमुना जल में स्थान कर समाहित चित्त से श्री अच्युत का भली-भाँति पूजन करने से मनुष्य को अश्वमेघ का पूर्ण फल प्राप्त होता है।[29] इसी प्रकार इस दिन अपने पितरों का श्राद्ध करने से व्यक्ति

न केवल अपने पितरों को तारता है अपितु स्वयं को भी पुण्य का भागी बनाता है।[30] इस प्रकार किसी विशेष तिथि पर कुछ निश्चित क्रियाकलापों के सम्पादन मात्र से ही, अश्वमेघ जैसे यज्ञ की फल की प्राप्ति, निश्चित तौर पर धार्मिक तिथियों के बढ़ते हुए, महत्व की परिचायक है। भारतीय जनमानस में धार्मिक तिथियों का महत्व पहले से ही था। परन्तु धार्मिक एवं साहित्यिक कृतियों में इसका वास्तविक महत्व गुप्त काल एवं इसके बाद से ही हुआ। महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी ने वाकाटक अभिलेखों में वर्णित द्वादशी या त्रयोदशी के अवसर पर दिए गए दान का संदर्भ एकादशी से स्थापित करते हुए निकाला है कि वाकाटक नरेशों ने अधिकांश दान एकादशी को निराहार रहकर द्वादशी या त्रयोदशी पारणा के अवसर पर दिये थे।[31] जय शंकर त्रिपाठी ने द्वादशी एवं त्रयोदशी तिथियों की महत्ता तो स्वीकार की है। परन्तु इन तिथियों को वे वाकाटकों की शिव भक्ति से जोड़ते हैं।[32] परन्तु उनकी यह अवधारणा वस्तुस्थिति को सुव्यक्त नहीं कर पाती। विष्णु पुराण जो एक वैष्णव पुराण है, जब वह स्वयं द्वादशी एवं त्रयोदशी तिथियों के महत्व की स्थापना करता है तब इन तिथियों के शैव मत से सम्बन्धित होने का प्रश्न ही नीं उठता। यही नहीं मस्त्य पुराण में भी एदादशी की तिथि को निराहार रहकर उस दिन द्वादशी के दिन विष्णु और लक्ष्मी के उपासना करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[33] मत्स्य पुराण की तिथि सामान्यतः छठीं शती ई0 स्वीकार की जाती है। इस सन्दर्भ में विश्ववर्मन् के समय अभिलेखीय साक्ष्य, धार्मिक

तिथियों के महत्व से सम्बन्धित एक अन्य महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करता है। राजस्थान के झालरापाटन नामक स्थान के समीप गंगाधर ग्राम में उपलब्ध इस अभिलेखमें गुप्त संवत् 105 अर्थात् 425 ई0 की तिथि प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि विश्ववर्मन् कुमार गुप्त प्रथम का समकालीन था। इसमें विश्ववर्मन् के आमात्य मयूराक्ष के द्वारा विष्णु मन्दिर, मातृदेवियों के मन्दिर तथा कूप के निर्माण कराने का वर्णन किया गया है। अभिलेख की बीसवीं तथा इक्कीसवीं पंक्ति में कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी तिथि को मधुसूदन अर्थात् विष्णु के उत्थान काल के रूप में स्वीकार किया है।[34] हाजरा ने पुराणों में धार्मिक तिथियों के महत्व आदि जैसे वर्णनों को छठवीं शताब्दी के आरम्भ में संकलित किया गया माना है।[35]

विष्णु पुराण के तिथि निर्धारण में एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख किया जा सकता है, विष्णु के साथ लक्ष्मी का सयोग।[36] संसार के स्वामी देवाधिदेव श्री विष्णु भगवान जब-जब अवतार ग्रहण करते हैं, लक्ष्मी जी सदैव उनके साथ रहती हैं। जब श्री हरि आदित्य रूप हुए तो ये पद्म से पुनः उत्पन्न हुई और पद्मा कहलायीं, जब वे परशुराम हुए तो वह पृथ्वी हुई। श्री हरि के राम रूप में अवतार लेने पर ये सीता जी हुई और कृष्णवतार में रुक्मिणी जी हुई। इस प्रकार अन्य अवतारों में भी वे भगवान से कभी पृथक नही होती।[37] यहीं नहीं आगे बताया गया है

कि भगवान के देवरूप होने पर यह दिव्य रूप धारण करती हैं और मनुष्य होने पर मानवी रूप से प्रकट होती हैं।[38] सुवीरा जायसवाल का मत है कि महाकाव्यों एवं पुराणों से जो साक्ष्य प्राप्त होता है उससे यही प्रतीत होता है कि वैष्णव सम्प्रदाय में लक्ष्मी का समावेश तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के आस-पास हुआ होगा।[39] मैक्स मूलर के द्वारा सम्पादित ''श्री सूक्त'' की ऋचाओं में पन्द्रह ऋचाओं के बाद की ऋचाएं,[40] जिनमें लक्ष्मी को विष्णु के साथ जोड़ा गया है, जिसे गुप्तकालानुवर्ती संयोजन एवं समावेशन क्रिया के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।[41] सोलहवीं ऋचा जो कि फलश्रुति है, वह इन ऋचाओं की अप्रमाणिकता सिद्ध कर देता है। ऋग्वेद के काश्मीरी संस्करण में उपरोक्त ऋचाएं नहीं प्राप्त होती हैं।[42] बौधायन गृहशेष सूत्र[43] विष्णु धर्मोत्तर पुराण[44] और अग्नि पुराण[45] में जिन आरम्भिक पन्द्रह श्लोकों का वर्णन प्राप्त होता है, उनमें लक्ष्मी का सम्बन्ध विष्णु से नहीं स्थापित किया गया है। अतः मोती चन्द्र का यह मत कि विष्णु की पत्नी के रूप में लक्ष्मी की उपासना, पालि बौद्ध ग्रन्थों के पूर्व होती थी,[46] नहीं माना जा सकता। सम्भवतः गुप्त युग में वैष्णव मत के व्यापक प्रचार एवं प्रसार के फलस्वरूप लक्ष्मी और विष्णु के युग्म की आराधना आरम्भ हो गयी होगी।[47] सुवीरा जायसवाल ने जैसा कि प्रतिपादित किया है कि तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के आस-पास लक्ष्मी को वैष्णव सम्प्रदाय की देवी के रूप में स्वीकार कर लिया गया था परन्तु विष्णु के साथ उनके सम्बन्ध गुप्त काल में ही स्थापित हो सके थे।

सर्वप्रथम अभिलेखीय साक्ष्य जो विष्णु एवं लक्ष्मी के सम्बन्धों को प्रकट करता है, वह मैं स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ का अभिलेख। इस अभिलेख में लक्ष्मी को भगवान विष्णु का शाश्वत निवास स्थान बताया गया है,[48] जो कमल पर निवास करती हैं। मिहिरकुल के ग्वालियर के अभिलेख में, भगवान विष्णु के नीचे बादलों के तुल्य वक्षस्थल पर उज्वला श्री (श्री लक्ष्मी) को अलंकृत बताया गया है।[49] छठीं शताब्दी के आरम्भ के एक अभिलेख में, नारायण के वक्ष में लक्ष्मी का निवास बताया गया है। 500 ई0 के एक कदम्ब अभिलेख में भागवत के वक्ष में श्री लक्ष्मी का निवास बताया गया है।[50] प्रकटादित्य के सारनाथ के अभिलेख[51] एवं आदित्यसेन के अफसढ़ के अभिलेख में लक्ष्मी को भगवान विष्णु की पत्नी बताया गया है।[52] जयाख्य संहिता, जो कि पांचरात्र सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, उसमें विष्णु को ''कमलाकामुक'' अर्थात् लक्ष्मी का प्रेमी तथा ''लक्ष्मी वल्लभ'' अर्थात् लक्ष्मी का प्रिय बताया गया है।[53] विष्णु पुराण में लक्ष्मी का भगवान विष्णु के साथ सम्बन्ध इसी तथ्य को प्रमाणित करता है कि इस पुराण परिवर्द्धन गुप्त काल के बाद हुआ होगा।

विष्णु पुराण में हूणों एवं पारसियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[54] महाभारत के सभापर्व में विदेशी जनजातियों की जो सूची प्रदान की गयी है, उसमें हूणों एवं चीन वासियों का उल्लेख है।[55] भीष्मपर्व में हूणों का उल्लेख प्राप्त होता है। हूणों के उल्लेख के साथ ही साथ हार-हूणों का

उल्लेख भी महाभारत में प्राप्त होता है।[56] इस विषय में यह अवधारणा व्यक्ति की गयी है कि ''हार'' शब्द प्राचीन फारसी के शब्द ''करमिर'' अथवा ''स्वरमिर'' का समानानार्थ है, जिसका अर्थ होता है ''लाल'' अथवा गाढ़े रंग का[57] जरथ्रुस्ट वादी अपने दुश्मनों को जिनमें हूण भी सम्मिलित थे, उनके लाल वस्त्रों, भालों एवं लाल ध्वजा के कारण ''कारमीरा'' कहते थे।[58] वस्तुतः ''लाल-हूण'' नामक कोई प्राणी नहीं थे, पारसीक प्रभाव के कारण ही भारतीय साहित्य में इस प्रकार की प्रथा आरम्भ हो गयी। महाभारत में एक स्थान पर ''ताम्रलिप्तिका'' नामक कबीले का उल्लेख हुआ है।[59] सम्भवतः उनके लाल वर्ण के कारण उन्हें इस नाम से अभिहित किया गया है। कुछ विद्वानों ने तंग राजवंश के वृत्तान्तों का उल्लेख करते हुए बताया है कि तिब्बती अपनी परम्परा के अनुसार अपने मुखों को लाल रंग से रंगते थे।[60] विष्णु पुराण में भी एक स्थान पर उल्लेख आता है कि जगत रचयिता ब्रह्मा जी ने क्रोधित होकर क्रोधयुक्त प्राणियों की रचना की, वे कपिश वर्ण के, अति उग्र स्वभाव वाले मांसाहारी हुए।[61] वराहमिहिर[62] भी हूणों का उल्लेख करते हैं। पुराणों यथा मार्कण्डेय[63], वायुपुराण,[64] ब्रह्माण्डपुराण,[65] मत्स्यपुराण,[66] वामनपुराण,[67] में हूणों का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णु पुराण की भी भांति कुर्मपुराण[68] में हूणों का उल्लेख सौवीरों एवं सैन्धवों के साथ प्राप्त होता है। उपेन्द्र ठाकुर के अनुसार हूण मध्य एशिया से मध्य भारत की ओर 500 ई0 के आस-पास आये थे।[69] हूणों का आतंकसंकुल आक्रमण

कुमार गुप्त के समय हुआ था, जिस समय स्कन्दगुप्त हूणों का सामना करने के लिए युद्ध क्षेत्र में उतरा तो उस समय उसके बाहुबल से पृथ्वी कांप उठी थी।[70] बौद्ध ग्रन्थ चन्द्रगर्भ-परिपृच्छा में कौशाम्बी के शासक महेन्द्र सेन का उल्लेख मिलता है। जब वह बारह वर्ष के थे तब उसके राज्य पर तीन बाहरी शक्तियों यवन, वाहीक अर्थात् बैक्ट्रिया निवासी तथा शकुन ने आक्रमण किया था। इनकी सम्मिलित सेना में तीन लाख सैनिक थे। उसके पिता ने महेन्द्र को इस महती सेना का सामना करने के लिए भेजा, इसने बारह वर्षो के अनवरत प्रयास के बाद इन विदेशियों पर सफलता पायी तथा उसने उनके नेताओं को मार डाला। के0पी0 जायसवाल का कथन है कि यहां पर स्कन्दगुप्त तथा हूणों के युद्ध का वर्णन है।[71] इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि विष्णु पुराण में हूणों का उल्लेख आक्रमणकारियों के रूप में होकर, भारतवासियों विशेषतः मालव और परियात्र के निवासियों के रूप में हुआ है। यह आरम्भिक हूण आक्रमण के बहुत बाद की स्थिति को प्रदर्शित करता है। कुछ विद्वानों ने मत व्यक्त किया है कि हूण हेरात के क्षेत्र में रहते थे।[72] मगर पुराण उन्हें पूर्व में अवस्थित बताते हैं, उनके अनुसार आमीरों के राज्य की समाप्ति पर, उनके सेवकों के वंश के 7 आन्ध्र, 10 आमीर, 11 गर्दभिल, 18 शक राजा होंगे। इसके अतिरिक्त 8 यवन, 14 तुषार, 13 मुरुण्ड और 11 हूण राजा होंगे।[73] कालिदास वंक्षु के तट पर हूणों का निवास स्थान मानते हैं, वहां पर रघु ने अपने प्रचण्ड पराक्रम से जिन

हूण नरेशों को मार डाला था, उनकी स्त्रियां सर पीट कर इतना रोई की उनके गाल लाल हो गये थे।[74] हर्ष चरित[75] के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है कि हूण उत्तरपथ में, पश्चिमी पंजाब झेलम और चिनाव के आसपास के क्षेत्रों में रहते थे। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने, ओरोसियस के ग्रन्थ का हवाला देते हुए बताया है कि 400 ई0 तक हूण भारत में प्रवेश नहीं कर सके थे अपितु भारत के दरवाजे पर दस्तक दे रहे थे।[76] यही नहीं लगभग 100 वर्षो बाद भी यही स्थिति बनी रही, चीनी साक्ष्यों के आधार पर शेवानस ने बताया कि 500 ई0 में हूणों के साम्राज्य में तोरवारिस्तान, काबुलिस्तान एवं जाबुलिस्तान सम्मिलित था, इसमें भारत का कोई भाग सम्मिलित नहीं था।[77] पूर्व प्रसंगित भितरी के स्तम्भ लेख से पता चलता है कि हूण स्कन्दगुप्त के हाथों बुरी तरह पराजित हुए थे और इस प्रकार उन्हें वापिस जाना पड़ा। ऐसी स्थिति में वह भारत में अपनी सत्ता की स्थापना करने में असफल रहे। हूणों के इतिहास में दूसरे महत्वपूर्ण अध्याय का पता सुंगयुन के वृतान्त से चलता है जो 520 ई0 के लगभग गांधार एवं उद्पान स्वात घाटी से गुजरा था और उसने एक वृहद वृतान्त लिख छोड़ा है।[78]

ऐसा प्रतीत होता है कि 500 ई0 तथा 520 ई0 के मध्य हूणों ने पूरी तरह से भारत में प्रवेश किया था। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने अभिलेखीय लगाये। साक्ष्यों के आधार पर इस अवधारणा को पुष्ट किया

है।[79] 484 ई0 के बुधगुप्त के एरण के अभिलेख से पता चलता है कि यमुना और नर्मदा के बीच के क्षेत्र पर सुरष्मिचन्द्र का शासन था और मातृविष्णु उसके अधीन एरण का "विषयपति" था।[80] 510 ई0 के एरण से ही प्राप्त एक अभिलेख से पता चलता है कि भानुगुप्त वहां पर विजय के उद्देश्य से गया था, वहीं पर उसका सेनापति गोपराज युद्ध में मारा गया और उसकी पत्नी सती हो गयी।[81] तीसरा अभिलेख जो कि तोरमाण के शासन काल के प्रथम वर्ष का है, उससे पता चलता है कि धन्यविष्णु और मातृविष्णु हूण नरेश तोरमाण का आधिपत्य स्वीकार करते थे। कल्हण ने भी राज तरंगिणी में तोरमाण 600 ई0 और मिहिरकुल 512 ई0 के शासन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे बर्बर लुटेरों की तरह आकीर्ण राज्य पर, मानों यमराज की तरह शासन करते थे। हजारों हत्यारे उन्हें दिन रात घेरे रहते थे, वे स्त्रियों और बच्चों पर दया नहीं करते थे।[82] इस प्रकार स्पष्ट है कि 510 से 520 ई0 के मध्य हूणों ने मध्य भारत पर अधिकार कर लिया था। चूंकि विष्णु पुराण हूणों का वर्णन आक्रान्ताओं के रूप में नहीं अपितु भारत में बसने वाली शक्ति के रूप में करता है, अतः विष्णु पुराण का संकलन निश्चित रूप से छठवीं शताब्दी के बाद हुआ होगा।

विष्णु पुराण में भरत आख्यान का विवरण भुवनकोशखण्ड में प्राप्त होता है। डा0 सिद्धेश्वरी नारायण राय ने इस अध्याय का विशद

विवेचन विष्णु पुराण के तिथि निर्धारण के सम्बन्ध में किया है। उनके अनुसार श्लोक-संयोजन तथा स्थल गढन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अध्याय का अतीत रूप कुछ भिन्नरहा होगा।[83] जहां तक बाह्य आकार प्रकार का प्रश्न है इस अध्याय में कहीं भी कुछ ऐसा नहीं प्राप्त होता है, जिससे यह प्रमाणित किया जा सके कि इसकी मौलिकता मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन किया गया हो। इसका विवरण सामान्यतया वहीं है जो वायु, ब्रह्माण्ड और मार्कण्डेय पुराण का है।[84] चारों पुराण इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सामान्यतया अपने उत्तराधिकारी को चुनने के पश्चात् राजा लोग वानप्रस्थ आश्रम को अपना लेते थे, सर्वमान्य रूप से आश्रम व्यवस्था प्रचलित हो चुकी थी तथा स्मार्त नियम, समाज के नियमन तथा संगठन में क्रियाशील थे। ऐसी स्थिति में आलोचित स्थल चौथी शती ई0 के आस पास रखे जा सकते हैं।[85] मगर डा0 राय का मत है कि विष्णु पुराण[86] में इस अध्याय का उद्देश्य वंश विवरण को प्रस्तुत करना उतना नहीं जितना कि ''शालिग्राम तीर्थ'' की महत्ता पर बल देना है जो कि अन्य तीर्थो से में वर्णित नहीं है।[87] अतः ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि विष्णु पुराण के आलोचित अध्याय का प्रति संस्करण, पौराणिक रचना के उस महत्वपूर्ण स्तर पर प्रस्तुत किया गया जबकि इसमें तीर्थ महत्ता के विधायक स्थलों का समावेश किया जा रहा था, ऐसा काल 700 ई0 माना गया है। विष्णु पुराण के इस अध्याय की तिथि इसी समय के आसपास निर्धारित की जा सकती है।

डा0 राय के अनुसार प्रस्तुत अध्याय में शालिग्राम तीर्थ का समावेश संकलन कर्ता की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का परिचय देता है, जिससे विष्णु पुराण अपने सामान्य स्वरूप में मुक्त है।[88] शालिग्राम तीर्थ को महमामंडित करने का कार्य वस्तुतः वैष्णव उप-पुराणों के काल में हुआ होगा क्योंकि विष्णु पुराण के विवरण और इनमें घोर समानता दिखाई देती है। उदाहरणार्थ नरसिंह पुराण में वर्णित तीर्थो की तालिका में शालिग्राम एक वैष्णव तीर्थ उद्घोषित किया गया। इस ग्रन्थ में पुण्डरीक नामक एक ब्राहमण के विषय में वर्णित है कि इन्होंने गृहस्थ आश्रम को स्वीकार किए बिना ही शालिग्राम तीर्थ में रहकर विष्णु की उपासना की थी। विष्णु धर्म पुराण में निरूपित एक क्षत्रिय ने कठोर तपस्या के निमित्त शालिग्राम में आश्रम बना लिया था बृहन्नारदीय पुराण में, विष्णु के आदेश का अनुसरण करने वाले उस मृकण्डु का उल्लेख मिलता है, जिसने शालिग्राम में तपश्चर्या किया था।[89] इस समीक्षा से यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस समय सम्प्रदाय-विशिष्ट वैष्णव उप-पुराणों की रचना सम्पन्न हो रही थी तथा इसमें वैष्णव तीर्थ शालिग्राम का समावेश किया जा रहा था, प्राथमिक पुराण संरचना के मूल अध्याय को दुहरा कर इसे एक नया रूप प्रदान किया गया।[90] इसका उद्देश्य शालिग्राम के गौरव को प्राचीनता से साथ समाहित करना और यह उसी दशा में सम्भव था जबकि प्राथमिक एवं विशिष्ट पुराण ग्रन्थ स्थलों में इसका समाहार किया जाये।[91]

भवभूति जिनका समय सामान्यतः आठवीं शताब्दी ई0 माना जाता है,[92] ने उक्त कथा को कुछ विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। उत्तर रामचरितम् में नट, यज्ञ में "जामाता" के आने की उद्घोषणा करता है, इस पर सूत्रधार कहता है कि किस प्रकार से जामाता? तो नट पुनः व्याख्या करते हुए कहता है कि दशरथ की शांता नाम की कन्या थी, जिसे उन्होंने अपने मित्र रोमपाद को गोद दे दिया था। इस प्रकार ऋष्यश्रृंग उनके जामाता हुए।[93] एक अन्य स्थल पर शान्ता का उल्लेख आया है, वहां पर बताया गया है कि जैसे शान्ता प्रिय हैं वैसे ही सीता।[94] चूंकि भवभूति का काल आठवीं शताब्दी है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि शान्ता विषयक आख्यान का विष्णु पुराण में समावेश छठवीं शताब्दी के आस-पास हुआ होगा। भागवत में भी स्पष्ट रूप से वर्णित है कि रोमपाद के मित्र दशरथ जी थे तथा रोम पाद की कोई संतान नहीं थी, अतः दशरथ ने शानता नाम की कन्या गोद दे दी।[95]

गुप्त युग में विष्णु के अवतारों में वराहावतार की उपासना को पर्याप्त बल मिला। इस समय की जो वराह मूर्तियां हमें ज्ञात हैं, वह मुख्यतया दो प्रकार की हैं, यज्ञवराह या पशुरूप में वराह और दूसरे नृवराह या वराह या मानव का संयुक्त रूप है।[96] विष्णु पुराण में यज्ञवराह का जो शब्दात्मक चित्रण प्राप्त होता है उसके अनुसार विष्णु ही वेद, वेदान्त और यज्ञपुरुष हैं तथा सूर्य आदि ग्रह, तारे, नक्षत्र और सम्पूर्ण

जगत भी आप ही हैं,[97] ऐसे वेदमय शरीर वाले महावराह की रोमावलि में मुनिजन स्थित हैं।[98] यज्ञरूपी वराह की मूर्तियों में एरण की एक प्रतिमा हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है। पशुरूपी वराह के समूचे शरीर पर वल्कल पहने हुए कमण्डलुधारी ऋणि तथा अन्य देव प्रतिमाएं अंकित हैं। गले में एक माला है, जिस पर अलंकरणों के साथ राशियों का चित्रण किया गया है।[99] एरण के यज्ञवराह का स्वरूप विष्णु पुराण में वर्णित यज्ञ वराह के स्वरूप में पूर्ण रूप से मिलता है।

विष्णु पुराण की तिथि निर्धारण के संदर्भ में श्रीकृष्ण से सम्बन्धित आख्यानों का उल्लेख किया जा सकता है। इन आख्यानों में प्रमुख आख्यान है, कालिय दमन। गुप्तोत्तर काल में कालिय दमन की घटना को अंकित करना कलाकारों को प्रिय विषय रहा हैं।[100] श्रीकृष्ण से सम्बन्धित आख्यान से ज्ञात होता है कि यमुना में एक अति भयंकर कालिय नाग नामक महासर्प के निवास के कारण, सम्पूर्ण वातावरण विषमय हो गया था। आपसी क्रीड़ा के दौरान कृष्ण की गेंद यमुना नदी में गिर गयी। यमुना में गिरी गेंद को निकालने के बहाने श्रीकृष्ण जल में कूद पड़े। कृष्ण ने कालिय नाग के दर्प का दलन कर दिया परन्तु रानियों द्वारा प्रार्थना करने के फलस्वरूप, उन्होंने नाग के जीनव को बचा लिया और नाग को उस स्थान को छोड़कर जाने की आज्ञा दी। विष्णु पुराण में इस घटना का मूर्तिविज्ञान से सम्बन्धित विवरण इस प्रकार से

प्राप्त होता है – श्रीकृष्ण ने अपने दोनों हाथों से उसके (नाक के) बीच का फण झुकाकर, उस नतमस्तक सर्प से ऊपर चढ़कर बड़े वेग से नाचने लगे।[101] वह अपने जिस मस्तक को उठाता उसी पर कूद कर भगवान उसे झुका देते।[102] श्रीकृष्ण जी की भ्रान्ति (भ्रम) रेचक तथा दण्डपात नामक नृत्य सम्बन्धिनी, गतियों तो ताड़न से वह महासर्प मूर्छित हो गया।[103] इसका प्राचीनतम अंकन मण्डोर के उत्तर गुप्तकालीन स्तम्भ में प्राप्त होता है, जिसमें प्रत्यालीढ़ मुद्रा में प्रदर्शित कृष्ण अपने दाहिने पैर से कालिय की पूंद्ध को और बाएं पैर से उसके फणों का मर्दन करते हुए दिखाए गये हैं। उनके दाहिनें हाथ में कमल का गुच्छा और बाएं हाथ में पाश है, जिससे उन्होंने कालिय को बांध रखा है। इस दृश्य की एक खण्डित मूर्ति मथुरा में उपलब्ध है।[104] मथुरा संग्रहालय की इस मूर्ति के सन्दर्भ में डा0 जोशी ने, विष्णु पुराण के श्लोकों को उद्धत किया है।[105] उनके अनुसार यह कृति सातवीं शताब्दी से सम्बन्धित है।

कुषाण कालीन एवं गुप्तकालीन मूर्तिकला के लक्षणों के आलोक में यदि हम विष्णु पुराण में वर्णित मूर्ति लक्षणों की समीक्षा करें तो विष्णु पुराण की तिथि निर्धारण करने में सहायता प्राप्त हो सकती है। गुप्तकाल तक विष्णु के हाथ में सिर्फ तीन आयुध ही दिखलाई पड़ते हैं, शंख, चक्र एवं गदा जबकि विष्णु पुराण में शंख, चक्र एवं गदा[106] के अतिरिक्त पद्य का भी[107] उल्लेख प्राप्त होता है। कहीं-कहीं विष्णु का

उल्लेख सिर्फ शंख और चक्रधारी के रूप में ही हुआ है।[108] इन चार अस्त्रों के अतिरिक्त विष्णु में शार्ड, धनुष, खड्ग, तुणीर[109] का विधान है। अन्त में श्रीकृष्ण के द्वारा मानवीय लीला समाप्त करने के उपरान्त, भगवान के शंख, चक्र, गदा, शांगर्ड, धनुष, तरकश और खड्ग आदि आयुध श्रीहरि की प्रदक्षिणा करके सूर्य मार्ग से चले गये।[110]

विष्णु पुराण में, विष्णु की मूर्तिकला से सम्बन्धित जो विवरण प्राप्त होता है, उसके अनुसार विष्णु जाजल्वमान पीताम्बर, निर्मल किरीट, केयूर हार एवं कटकादि धारण किए हुए हैं, उनकी चार लम्बी भुजाएं हैं, जो शंख, चक्र, गदा और पद्य धारण किये हुए हैं तथा खिले हुए कमल के समान जिनकी निर्मल आखें हैं।[111] उनका यक्ष "श्रीवत्स" चिन्ह से शोभित है।[112] उन्हें लम्बी भुजाओं वाला, विशाल एवं ऊंचे वक्षः स्थल तथा उन्नत नासिका वाला वर्णित किया गया है, जो सविलास हास्ययुक्त मनोहर मुखारबिन्द से सुशोभित तथा उन्नत एवं रक्तनखयुक्त चरणों से पृथ्वी पर विराजमान थे। तथा श्वेत कमल के आभूषणों से युक्त श्याम शरीर सचन्द्र नीलांचल के समान सुशोभित बताया गया है।[113] ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन प्रतिमाओं में जो भावात्मक सौन्दर्य का निदर्शन होता है, विष्णु पुराण उसका आधार प्रस्तुत करता है।

विष्णु पुराण में भगवान के हाथों का ध्वज, वज्र और पद्म आदि चिन्हों से अंकित वर्णित किया गया है।[114] हर्षचरित में भी शंख तथा

चक्र आदि का उल्लेख चक्रवर्ती लक्षणों के रूप में किया गया है।[115] जैन पुराणों में चक्रवर्ती के लक्षणों में शंख, चक्र, गदा, कूर्म तथा मीन[116] आदि का हथेली पर होना वर्णित किया गया है। यही नहीं चक्रवर्ती के पैरों में भी चक्र, छत्र, तलवार तथा दण्डादि चिन्ह बने रहते हैं।[117] इसके अतिरिक्त जैन महापुराण में वर्णित[118] कि चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र, मच्छ, कच्छप आदि शुभ लक्षण है, जिस व्यक्ति के चरण-तल पर यह लक्षण पाये जाते हैं, उसे भाग्यवान पुरूष समझना चाहिए। महापुराण के ही अनुसार चक्रवर्ती के पैर में शंख, चक्र, अंकुश आदि लक्षण पाये जाते थे।[119] यही नहीं मध्यकाल के एक ग्रन्थ ''रूप मंडन'' में शिवलिंग पर पद्म, शंख, ध्वजा, छत्र, खड्ग, चामर, वज्र, अर्द्धचन्द्र, चक्र, मत्स्य, घट तथा नन्द्यावर्त चिन्हों को शुभ माना गया है।[120] चक्रवर्ती राजाओं को विष्णु का ही अंश माना जाता था, इसी कारण से इन मांगलिक एवं सौभाग्यप्रद चिन्हों को, हथेलियों पर उत्तकीर्ण करने की परम्परा चल पड़ी। नैषधचरित में जब महाराज नल अदृश्य रूप से दमयन्ती के अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं तो कर्पूर धूल पर उनके चरण तल से अंकित चक्र की छाप को देखकर स्त्रियां इस चिन्ह को चक्रवर्ती का चिन्ह बताती हैं।[121] वस्तुतः जैन मूर्तिकला में तीर्थकर की हथेलियों पर चक्र तथा पैर के तलुओं पर त्रिरत्न और चक्र के प्रदर्शन की परम्परा प्राप्त होती है।[122] कुषाण कालीन जैन मूर्तियों में इस प्रकार के मांगलिक चिन्हों का प्रयोग प्राप्त होता है। वृहत्संहिता में भी पद्मांकित कर एवं चरण वाले, पद्मासन में बैठे हुए

प्रसन्नमूर्ति बुद्ध का वर्णन प्राप्त होता है।[123] वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अमिताभ तथा अमौघासिंह आदि ध्यानी बुद्ध की मूर्तियों में चक्र, वज्र, रत्न, कमल आदि मांगलिक चिन्हों का अंकन प्राप्त होता है। मांगलिक चिन्हों के प्रदर्शन की परम्परा जैनियों और बौद्धों ने आरम्भ की थी जिसे सम्भवतः पूर्व मध्यकाल के आस-पास पौराणिक देवी-देवताओं के अंगों पर अंकित किया जाने लगा। बौद्ध ग्रन्थ अवदान-शतक में महापुरूष के बत्तीस लक्षणों का विवेचन प्राप्त होता है।[124] ललित विस्तार में भी महापुरूषों के बत्तीस लक्षणों को परिगणित किया गया है, इसमें भी महापुरूषों की हथेली पर चक्र का चिन्ह होना बताया गया है।[125] प्रस्तुत परम्परा परीवाह का सहज निदर्शन आलोचित पुराण में निरूपति किया जा सकता है, जिसके अनुसार नृप पृथु - वैन्य का दाहिना हाथ "चक्र" चिन्ह के अंकन से युक्त था, जिसका साक्षात्कार करने के उपरान्त लोक-सृष्टापितामह को परम प्रसन्नता हुई।[126] जैन पुराणों में महापुरूषों के यहां लक्षण बत्तीस से बढ़कर बासठ हो जाते हैं। उक्त अनुच्छेदों में विष्णु पुराण के स्थानों की विशिष्टताओं को विमर्णित करने के उपरान्त तिथि - विषयक प्रकरण के सन्दर्भ में ऐसी सम्भावना प्रस्तावित की जा सकती है कि इसके वर्तमान कलेवर की संरचना तीन स्तरों के क्रमण, अनुक्रमण एवं प्रतिक्रमण के अनुसार सम्पन्न हुआ होगा। प्रथम स्तर की प्रतिष्ठापना मूल स्तर के रूप में की जा सकती है, जिसमें विष्णु पुराण के मूल अंश सुरक्षित हैं और इसका काल गुप्त युग के आरम्भिक काल

तक माना जा सकता है, जहां पर आरम्भिक गुप्त साम्राज्य की स्थापना विषयक सूचना प्राप्त होती है।[127]

द्वितीय स्तर पर विष्णु पुराण का पुर्नसंस्करण पांचवी और छठवीं शताब्दी में हुआ प्रतीत होता है। इस स्तर पर विष्णु पुराण में धार्मिक तिथियों, तीर्थो तथा दानों आदि का समावेश कर लिया गया प्रतीत होता है। हाजरा ने इस विषय में प्रतिपादित किया है कि पुराणों में धार्मिक तिथियों के महत्व, दान तथा तीर्थ यात्रा का उल्लेख छठवीं शताब्दी ई0 से मिलना आरम्भ होता है।[128] इस प्रसंग में राम कथा में उनकी बहन ''शान्ता'' के उल्लेख को भी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। क्योंकि बाल्मीकि-रामायण, महाभारत, भास और कालिदास जैसे राम कथा को प्रस्तुत करने वाली कृतियों में राम की बहन शान्ता का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में सर्वप्रथम राम की बहन ''शान्ता'' का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भागवत और उत्तररामचरितम् में राम की बहन का उल्लेख तथा उससे सम्बन्धित कथा का चित्रण प्राप्त होता है। भास और कालिदास के समय भी कुछ हद तक विवादित हैं। भास की तिथि उत्तरवर्ती सीमा चौथी शताब्दी ईसवीं मानी जाती है। तथा कालीदास का महान गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (380-412 ईसवीं) के काल से जोड़ा जा सकता है। जब इन दोनों महान साहित्यकारों ने जिन्होंने राम कथा का सूक्ष्म विवेचन किया है, उन्होंने राम से सम्बन्धित इस पात्र

का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। अतः विष्णु पुराण इस दृष्टि से भास और कालिदास के बाद की रचना प्रमाणित होता है। इस प्रकार ज्योतिष सम्बन्धी स्थलों के विवेचनों में,नवग्रहों का पूर्ण ज्ञान, ग्रहों से सम्बन्धित तथा उनके स्वरूप और उनके रथों का पूर्ण विवेचन, विष्णु पुराण पर वराहमिहिर का प्रभाव दृष्टिगत होता है। वराहमिहिर का काल पांचवी शताब्दी होना सिद्ध है। अतः इस दृष्टि से भी विष्णु पुराण का द्वितीय स्तर छठवीं शताब्दी का प्रमाणित होता है। विष्णु पुराण ज्योतिष के ज्ञान से पूर्ण रूप से परिचित प्रतीत होता है, एक स्थल पर पूर्वकालीन ऋषि गर्ग को नागश्रेष्ठ शेष से, समस्त ज्योर्तिमंडल (ग्रहनक्षत्रादि) और शकुन, अपशकुनादि नैमत्तिक फलों के परिज्ञान को सीखने वाले के रूप में वर्णित किया गया है।[129]

विष्णु पुराण का तीसरा परिसंस्करण सातवीं और आठवीं शताब्दी में हुआ प्रतीत होता है। विष्णु पुराण में काश्मीर और सिन्धु पर शूद्र शासकों का राज्य होना[130] तथा ह्वेनसांग द्वारा सिन्धु के शासक को शूद्र के रूप में वर्णित करना, मिहिरकुल का कुछ समय के लिए अधिकार, विष्णु पुराण में काल यवन का उल्लेख इसी ओर संकेत है। (वी० सी० श्रीवास्तव ने विष्णु पुराण में वर्णित राज्यवर्द्धन 3353 का तादात्म्य वर्द्धन वंश के शासक राज्यवर्द्धन (छठवीं शताब्दी ईसवीं) से, उसके नाम और उसकी सूर्य भक्ति के आधार पर किया है। श्रीवास्तव के

मतानुसार दोनों ही राजाओं की सूर्य भक्ति में समानता एक महत्वपूर्ण साक्ष्य है परन्तु दोनों राजाओं की भिन्न वंशावलियों के कारण दोनों में ऐक्स स्थापित करना कठिन प्रतीत होता है। (विष्णु पुराण की तिथि के निर्धारण में ठोस प्रमाण (positive evidence) के रूप में प्रतिमा विज्ञान से सम्बन्धित स्थलों का महत्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम बलराम के प्रतिमा विज्ञान का विश्लेषण किया जाये। कुषाणकाल से लेकर छठवीं शताब्दी तक बलराम की जो भी प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं, उनमें स्त्रियों अथवा बलराम की पत्नियों का अंकन नहीं प्राप्त होता है, केवल छठवीं शताब्दी के बाद ही मूर्तियों में बलराम को महिलाओं के साथ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है।[131] इसी प्रकार विष्णु के मूर्तिविज्ञान सम्बन्धी लक्षणों में "श्रीवत्स चिन्ह" का महत्वपूर्ण स्थान है, कुषाण कालीन किसी भी विष्णु की मूर्ति में श्रीवत्स चिन्ह का अभाव है, दूसरे कुषाण कालील वनमाला, घुटनों तक लम्बी नहीं अपितु छोटी है तथा कुषाण कालीन मूर्तियों में विष्णु के हाथ में केवल तीन शस्त्र गदा, शंख और चक्र परिलक्षित होते हैं तथा गुप्तकाल तक यह स्थिति बनी रहती है। जहां तक विष्णु पुराण का प्रश्न है, उसमें विष्णु के प्रायः प्रत्येक स्वरूप वर्णन में श्रीवत्स के चिन्ह के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन विष्णु की मूर्तियों में यह गिनी मात्रा में प्राप्त होता है, मध्यकाल से इसकी प्राप्ति पर्याप्त रूप से होनी लगती है।[132] इसी प्रकार विष्णु पुराण में विष्णु को रत्नमयी मुद्रिका धारण किये हुए वर्णित किया गया है, यह लक्षण भी पूर्व

मध्यकालीन है, मध्यकाल में तो मुद्रिका धारण करने का प्रचलन, प्रतिमाओं में इतना बढ़ गया था कि यहां तक अंगूठे में भी मुद्रिका धारण किये विष्णु को प्रस्तुत किया गया है।[133] विष्णु के चोथे अस्त्र के रूप में पद्म का प्रस्तुतीकरण जिसका अभाव कुषाण काल में था, मध्यकाल से स्थापत्य से स्थायी तत्व के रूप में मध्यकाल से प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में विष्णु को ''प्रलम्बबाहु'' रूपे में वर्णित किया गया है, गुप्तकालीन तथा मध्यकालीन मूर्तियों में विष्णु को प्रलम्बबाहु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विष्णु के स्वरूप वर्णन में विष्णु पुराण द्वारा ''त्रिवली'' का उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण है, कला तो क्या साहित्य में भी पुरूष के सौन्दर्यभिव्यक्ति में त्रिवली का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। कालीदास, माघ और श्रीहर्ष जैसे कवियों ने इसका प्रयोग नायिकाओं के लिए ही किया है। अतः स्तरीकरण के तीसरे स्तर पर विष्णु पुराण पूर्व मध्यकालीन सिद्ध होता है। विष्णु पुराण में शालिग्राम तीर्थ के महत्व की प्रतिष्ठापना एवं भौम राजाओं का उल्लेख ऐसे तथ्य हैं, पुराण को सातवीं और आठवीं शताब्दी से ही जोड़ते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विष्णु पु0 4/20/52-53

2. वही 2/24/118-119

3. विष्णु पु0 3/6/20

4. पार्जिटर एशिएन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन पृ0 80

5. फर्क्यूहर आउट लाइन्स पृ0 143-144

6. विण्टरनिल्स हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भगर 1 पृ0 545

7. विष्णु पु0 4/24/55

8. वैद्य हिस्ट्री आफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया भाग 1 पृ0 350

9. जे0 बी0 आर0 ए0 यस0 1925 पृ0 155 आ0

10. महाभारत 12, 321-340

11. विष्णु पु0 5/18/58, ब्रह्म, 192 भागवत 10/40/21 पद्य0 उत्तर 272/313-314

12. कूर्म 41-95

13. आर0सी0 हाजरा स्टडीज इन द पुराणिक रिकार्डस आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स्

14. डा0 सर्वानन्द पाठक विष्णु पुराण का भाग पृ0 15

15. डा0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग 3 पृ0 501, पा टी

16. सांख्य कारिका 49

17. दास गुप्ता हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी 501 पी टी

18. सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् इण्डियन फिलासफी भाग 2 पृ0 255

19. वेलवालकर भडारकर कममोरेशन वाल्यूम पृ0 175-178

21. डा0 चन्द्रधर शर्मा ए क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी पृ0 150

22. भविष्य पुराण चतुर्थ खण्ड आठवा अध्याय

23. डा0 नेमिचन्द्र शास्त्री भारतीय ज्योतिष पृ0 81

24. वही पृ0 81-82

25. रामा कमल मुकर्जी भारत की संस्कृति और कला पृ0 160

26. उदय नारायण राय गुप्त राजवंश और उनका युग पृ0 242

27. विष्णु पु0 1/20/38

28. वही 3/11/118

29. वही 6/8/35

30. वही

31. वाकाटक राजवंश और उनके अभिलेख पृ. 76

32. मिश्र जयशंकर साहित्य में क्ष, त्र, ज्ञ, पृ0 177-80

33. मत्स्य पु0 80/3, 5

34. भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड 3, पृ0 94

35. हाजरा स्ट0 पु0 रि0 हि0 रा0 क0 पृ0 789

36. विष्णु पुराण 1/9/177

37. विष्णु पु0 1/9/142

38. विष्णु पु0 1/9/143-144

39. सुवीरा जायवाल द ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आफ वैष्वनिज्म पृ0 102

40. ऋग्वेद, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 11 एडिशन भाग 4 पृ0 523-8

41. वही 1/9/145

42. ऋग्वेद, काश्मीर संस्करण, वैदिक संशोधन मण्डल द्वारा प्रकाशित पृ0 927

43. बौधायन गुह्य शेष सूत्र 5

44. विष्णु धर्मोत्तर पुराण 128-2

45. अग्नि पुराण 237-2

46. मोती चन्द्र, जे यू पी एच एस 21, 1948 पृ0 22

47. डी ए पई मोनोग्राफ आन द रिलीजियस सेक्ट्स इन इण्डिया एमंग हिन्दूज पृ0 7

48. फ्लीट, सी ।। ।।। संख्या 14, प्रथम पंक्ति

49. वहीं संख्या 37, आठवीं पंक्ति

50. सरकार डी0 सी0 क्लासिक एज पृ0 419

51. सी । ।।।, 79, चौथी पंक्ति

52. वही संख्या 42, पंक्ति 11-112

53. जयाख्य संहिता 1/43/44

54. विष्णु पु0 2/3/17

55. महाभारत (कलकत्ता संस्करण) 6885, ।।।,1991, VI 373

56. वही ।। 309, 3/11/85

57. एफ0 यफ0 वेलर, एशियाटिका पृ0 12

58. महाभारत 1, 147 2, 120

59. शाफेर, इथनोग्राफी आफ एन्शियन्ट इण्डिया पृ0 134 बुद्ध प्रकाश कालिदास एण्ड हूण पृ0 46, नोट 79

60. विष्णु पु0 1/5/45

62. वृहत्संहिता 11/61

63. मार्कण्डेय पुराण 57/54

64. वायु पुराण 45/108-36

65. ब्रह्माण्ड पुराण 49/44/71

66. मत्स्य पुराण 114/34/56

67. वामन पुराण 13/36/38

68. विष्णु पु0 2/3/17, कूर्म पु0 1/46/47

69. उपेन्द्र ठाकुर सम एसपेक्ट्स आफ एन्शियन्ट हिस्ट्री एण्ड कल्चर पृ0 61

70. सरकार सलेक्टर इस्ट्रिप्शंस, भितरी अभिलेख 15 वीं पंक्ति हूर्णर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्याधरा कम्पिता

71. वाकाटक, गुप्त एज पृ0 164 पाद टिप्पणी

72. मोती चन्द्र, सार्थवाह पृ0 66, 27-28, 31-32 सरकार द्वारा उद्धत स्टडीज इन ज्योग्राफी आफ एशिएन्ट इण्डिया पृ0 27, पाद टिप्पणी 2

73. पार्जिटर डायनस्टी आफ कलि एज पृ0 72

74. रघुवंश, सर्ग, 4 श्लोक 67-6

75. सरकार द्वारा उद्धत पृ0 27, पाद टिप्पणी 2

76. चट्टोपाध्याय सुधाकर, अर्ली हिस्ट्री आफ नार्थ इण्डिया पृ0 232

77. वही

78. वील एस0, बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ द वर्ड

79. चट्टोपाध्याय सुधाकर अर्ली हिस्ट्री आफ नार्थ इण्डिया पृ0 232

80. कारपस, 111, पृ0 89

81. कारपस 111 पृ0 92

82. कल्हण राजतरंगिणी, 1, 289, आ0 बी0 ए0 स्मिथ, अर्ली हिस्ट्र पृ0 328 आ0, 333 आ0

83. राय एस0 एन0 : हिस्टारिकल एण्ड कल्चरल स्टडीज इन द पुराणस पृ0 212

84. वायु पु0 अध्याय 33, ब्रह्माण्ड पुराण अनु0 अध्याय 14, मार्कण्डेय पु0 अध्याय 50

85. हाजरा : क्रोनोलोजिकल टेबुल आफ दि पुराणिक चैप्टर्स पृ0 177

86. विष्णु पु0 2/1/24, 34

87. हाजरा वही पृ0 177

88. राय सिद्धेश्वरी नारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज पृ0 188

89. इन पुराणों के विषय विवेचन के लिए, द्रष्टव्य हाजरा स्टडीज इन द उप पुराणाज, भाग 1

90. राय सिद्धेश्वरी नारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज पृ0 188

91. राय सिद्धेश्वरी नारायण : पोराणिक धर्म एवं समाज पृ0 119

92. उत्र राम चरितम्, प्रथम अंक पृ0 6

93. वही चतुर्ाी अंक पृ0 95

95. भागवत 9/23/7-8

96. जोशी नी0 पु0 : प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान पृ0 99

97. विष्णु पु0 1/4/23

98. वही 1/4/29

99. एशियन्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्किलोजी सागर 1967 न01 पृ0 83

100. बाजपेई के0 डी0 : सागर थ्रूएजेज पी यल IV

101. विष्णु पु0 5/7/44

102. वही 5/7/47

103. बाजपेयी : कृ0 द0 : वर्ष 9, अंक 2 पृ0 134, फलक 3 ब्रजभारती वर्ग 15 द्रष्टव्य कृष्ण देव : खजुराहो पृ0 86

104. राय सिद्धेश्वरी नारायण : पौराणिक धर्म एवं समाज पृ0 154

105. जोशी नीलकंठ पुरूषोत्तम : मथुरा की मूर्ति पृ0 52

106. विष्णु पु0 पंचम अंश/दसवा अध्याय

107. विष्णु पु0 1/9/66

108. विष्णु पु0 1/13/4-5

109. वही 4/15/13

110. वही 5/17/20

111. वही 5/17/20-22

112. वही 6/7/80-83

113. वही 6/7/83-85

114. वही 15/179

115. हर्षचरित 15/37-43

116. जैन महापुराण 3/16

117. वही 6/198

118. श्रीवास्तव, बलराम 'रूपमण्डन' की भूमिका पृ0 74

119. जैन महापुराण 3/16-17

120. जोशी, एन0 पी0 'यूज आफ आसपिसस सिम्बल्स' डा0 मिराशी फेलिसिटेशन वाल्यूम, नागपुर 1965 पृ0 311-17

121. नैषधः 6/39

123. बृहत्संहिता 57/44

124. अवदानशतक, 3 कुसिकावदान, पृ0 9

125. ललित विस्तर, 7 - दीर्घांगुलि अधः क्रमतलयोः चक्रे जाते चित्रे सहस्त्रारे सेनिमिके सनाभिः।

126. विष्णु पु0 1/13/45

127. वही 4/24/63

128. हाजरा : वही

129. विष्णु पु0 2/5/26

130. विष्णु पु0 4/24/68

131. विष्णु पु0 4/1/34-36

132. वही 282/284

133. वही 298

अध्याय – 2
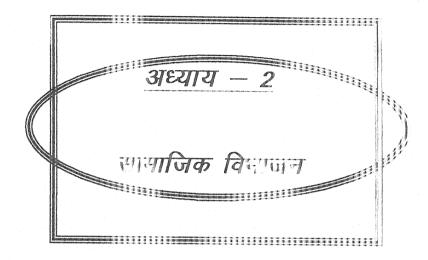
सामाजिक विभाजन

सामाजिक विभाजन

पुराण, वैदिक कालीन सामाजिक परम्परा का अनुपालन करते हुए, समाज का विभाजन चार वर्णों में, सामाजिक जीवन का विभाजन चार आश्रमों में तथा व्यक्ति के जीवन के स्वरूप का विभाजन चार पुरूषार्थों में करते हैं। वस्तुतः आर्यों ने व्यक्ति के पूर्ण जीवन की कल्पना सौ वर्षों के लिए की थी और इस जीवेम शरदः शतम् का संतुलित एवं वैज्ञानिक विभाजन चार भागों में ही किया जा सकता था। यह ''चातुर्वर्णव्यवस्था'' आर्यों की दृष्टि में पूर्णता की परिचालक थी, सम्भवतः इसी पूर्णता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के जीवन के महत्वपूर्ण उपादनों को चार से जोड़ दिया गया। विष्णु पुराण में विष्णु को जनार्दन शब्द से आख्यापित करते हुए कहा गया है कि वे जनार्दन चार विभाग से सृष्टि के और चार विभाग से ही स्थिति के समय रहते हैं तथा चार रूप धारण करके ही अन्त में प्रलय करते हैं। एक अंश से वह अव्यक्त स्वरूप ब्रहमा होते हैं, दूसरे अंश से मरीचि आदि प्रजापति होते हैं उनका तीसरा अंश काल है और चौथा सम्पूर्ण भूत-ग्राम। इस प्रकार वे रजोगुणविशिष्ट होकर चार प्रकार से सृष्टि के समय स्थित होते हैं।[1] सामाजिक व्यवस्था का निर्माण सामाजिक अन्तः क्रियाओं और अन्तः सम्बन्धों के द्वारा होता है।[2] व्यक्ति के बीच होने वाले इन अन्तः क्रियाओं व अन्तः सम्बन्धों के

फलस्वरूप अनेक रीति-रिवाजों, कार्य प्रणालियों, अधिकार, पारम्परिक सहयोग से अनेक संस्था एवं समूह आदि क्रमशः विकसित होते चले जाते हैं।

ऋग्वैदिक समाज के आरम्भ में वर्ण व्यवस्था ऐसी कोई संस्था नहीं थी।[3] समाज में केवल दो जाति समूह थे पहला आर्य तथा दूसरा अनार्य जिन्हें दस्यु अथवा दास कहा गया है। दास अथवा दस्यु स्थानीय निवासी थे, जिन्हें आर्यो ने पराजित किया था।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक आर्य के लिए वर्ण का अर्थ "रंग" ही अभिप्रेत था।[5] आर्यो एवं दासों में विभाजन रंग के आधार पर ही किया गया था।[6] आर्यो की सामाजिक व्यवस्था जैसे-जैसे सुदृढ़ होती गयी, वैसे-वैसे वे अपना यायावरी जीवन परित्याग कर, स्थिर होते गये तो संभवतः वर्णो के मूल दो विभाजनों को रखते हुए, कर्मो के आधार पर समाज का विभाजन कर लिया गया और इस विभाजन को दैवी स्वरूप प्रदान कर दिया गया।[7]

वास्तविकता एवं यथार्थ-सन्निदर्शन की दृष्टि से देखा जाए तो वर्ण विभाजन के पीछे कर्म (विशेषीकरण) का सिद्धान्त प्रमुख रूप से कार्य कर रहा था परन्तु रंगों पर आधारित प्राचीन विभाजन भी कहीं न कहीं अवशेष खण्डस्मृति के रूप में लोक मानस में सुरक्षित था। विष्णु पुराण में शल्मल द्वीप कपिल, अरूण, पीत एवं कृष्ण, इन चारों वर्णो के रहने का उल्लेख प्राप्त होता है जो क्रमशः ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे।[8]

प्रायः समस्तरीय वर्णन महाभारत में उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार ब्रहमा ने ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति की जिनका रंग क्रमशः श्वेत, लोहित (लाल), पीला और काला था।[9] ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक काल में रंगों के आधार पर वर्णो के विभाजन के पीछे व्यक्तियों के गुणों की अभिव्यक्ति कार्य कर रही थी। महाभारत के उपरोक्त श्लोक पर की गयी टीका से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है,[10] श्वेत रंग का परिचायक सत्व गुण था, लाल रंग का रजोगुण, पीले रंग का रजोगुण और तमोगुण तथा काले रंग का तमोगुण। विष्णु पुराण में भी सत्व, रज, एवं तम से ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति बतायी गयी है।[11]

ब्राह्मण :

भारतीय परम्परा में वैदिक काल से ही (जातक काल को छोड़कर) ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया था। ब्राह्मण को द्विज तथा विप्र शब्दों से पुकारा जाता था।[12] विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह दान दे, यज्ञों द्वारा देवताओं का भजन करें, स्वाध्यायशील हो, नित्य स्नान तर्णण करें और अग्निदान आदि कर्मो को करता रहे।[13] वैदिक काल से ब्राह्मण को विद्वान, मनीषी तथा वाक पटु मानने की मान्यता रही थी। तैत्तरीय संहिता में ब्राह्मण के प्रत्यक्षतः देवता कहा गया है।[14] वस्तुतः ब्राह्मण की महानता के पीछे

उसका धर्म--कर्म आदि से जुड़ा होना था। वह देवताओं और मानवों के मध्य सम्पर्क सूत्र या माध्यम का कार्य करता था। यज्ञ का सम्पादन तथा पौरोहित उसके मूल कर्तव्यों में से एक था। विष्णु पुराण में वशिष्ठ को सौदास का पुरोहित बताया गया है।[15] यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड इतने जटिल थे कि उनको सामान्य जन सुगमता पूर्वक कर पाने में असमर्थ था, इसी कारण से पुरोहित के रूप में इनका स्थान निर्विवाद रूप से सर्वोच्च था। उत्तर वैदिक काल से ही ब्राह्मणों को यह स्थान प्राप्त हो गया था, ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुरोहित के अभाव में राजा द्वारा दिए गये हवनीय पदार्थ को देवता स्वीकार नहीं करते थे।[16]

ब्राह्मणों का दूसरा प्रमुख कर्तव्य अध्यापन तथा स्वाध्यायशीलता में प्रतिष्ठित था। ब्राह्मणों की अध्ययनशीलता और अध्यापन की परम्परा भी पुरानी थी। गौतम धर्म सूत्र में भी ब्राह्मणों को अध्यापन से सम्बन्धित बताया गया है।[17] ब्राह्मणों के कर्तव्यों में जिस महत्वपूर्ण तत्व का समावेश पौराणिक परम्परा एवं प्रायः समवर्ती स्मार्त परम्परा में हुआ वह था ''दान''। इस काल के ब्राह्मणों से अपेक्षा की जाती थी कि वह दान दें, जबकि पूर्वकालिक ग्रन्थों में ''दान'' की व्यवस्था क्षत्रियों और वैश्यों के लिए ही थी। महाकाव्यों के युग तक ब्राह्मणों से अपेक्षा की जाती थी कि वो दान ग्रहण करें, यही नहीं स्वाध्याय और तप रहित ब्राह्मण के लिए दान लेना भी वर्जित था।[18] ब्राह्मण के लिए धर्म संग्रह करना निषिद्ध

था।[19] यहां पर यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब ब्राह्मण के लिए धन संग्रह करना वर्जित था तो वह दान किस तरह से कर सकता था। यही नहीं अपने वर्ण धर्म को छोड़कर, धन के लिए क्षत्रिय और वैश्य के कर्म को अपनाने वाले ब्राह्मण को रामायण में शूद्र से भी निन्दनीय माना गया है[20] और महाभारत में तो उसे कुत्ता और भेड़िया माना गया है।[21] महाभारत में अध्यापन, संयम और तप ब्राह्मणों के, स्वाध्याय लोक रक्षा, यज्ञ करना, दान देना क्षत्रियों के, स्वाध्याय दान देना, यज्ञ करना और ईमानदारी से धन कमाना वैश्यों का, और अन्य वर्णो की सेवा शुश्रषा और धन संचय न करना शूद्रों और का कर्तव्य बताया गया है।[22]

ऐसी परिस्थिति में यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के एक वर्ग की आय पौराणिक युग में हो गयी थी, जिनके कारण उनसे अपेक्षा की जाने लगी थी कि वह भी दान करें। ब्राह्मणों की इस आर्थिक सुदृढ़ता के पीछे कई तत्व क्रियाशील थे। इनमें पहला तो उनके द्वारा दान ग्रहण करने का अधिकार था। ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण अधिकाधिक दान लेने का प्रयास करते थे।[23] ब्राह्मणों को राज्य एवं सामान्य जन दोनों से ही पर्याप्त दान प्राप्त होता था। प्रतिग्रह का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था।[24] वायु और ब्राह्माण्ड पुराण में ब्राह्मणों को देवों के मुख के समान बताया गया है, अतः इन्हें ही दान देने को

कहा गया है।[25] विष्णु पुराण में काशी राज द्वारा ब्राहह्मणों को नित्य प्रति दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[26]

दूसरा कारण, ब्राह्मण के धन को ग्रहण किए जाने पर प्रतिबन्ध था। उसका धन-धान्य राजा के लिए भी अग्राह्य था।[27] ब्राह्मण के धन को वशिष्ठ भी ग्रहण करने की सलाह राजा को देते हैं क्योंकि ब्राह्मण विष से भी अधिक घोर है, विष तो केवल एक व्यक्ति का नाश करता है किन्तु ब्रह्मस्व तो पुत्र पौत्र सभी को नष्ट कर देता है।[28] इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों का एक बड़ा वर्ग सामान्तया करों से मुक्त था। कौटिल्य ब्राह्मणों को कर मुक्त करने को कहते हैं।[29] मनु ने तो यहां तक कहा कि अति निर्धन राजा को भी वेद पाठी ब्राह्मण से कर नहीं लेना चाहिए।[30] कर मुक्ति की भारतीय अवधारणा मध्यकालीन यूरोप के क्लर्जी वर्ग (पादरी अथवा पुरोहित) की ओर बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। वहां पर भी पादरी वर्ग सर्वथा कर मुक्त था।[31] प्रोटेस्टेन्ट क्रान्ति के पूर्व जर्मनी के अपेक्षाकृत सीमित हैसियत वाल कुलीन अपने राज्य की अर्थव्यवस्था के चौपट हो जाने के बावजूद कैथोलिक नियमों के कारण चर्च या उसकी सम्पत्ति पर कर लगाने में अपने को असहाय पाते थे।[32] फ्रांस की क्रान्ति के पूर्व वहां पर भी समस्त करों का भार किसान और सामान्य वर्गो पर था, पुरोहित वर्ग करों से मुक्त था।[33]

तीसरा कारण राजा द्वारा किया गया ''भू-अनुदान'' प्रतीत होता है। विवेच्य काल से ही ब्राम्हणों को भू-दान देने की प्रथा का प्रचलन आरम्भ होता है। भूमि अनुदान दो प्रकार के होते थे, प्रथम प्रकार के अनुदान को अग्रहार कहा जाता था जो केवल ब्राह्मणों को मिलता था और कर मुक्त था।[34] दूसरा प्रकार ''ब्रह्मदेव'' था, इस प्रकार के अनुदान में शिक्षा तथा धार्मिक आदि कार्यो में संलग्न ब्राह्मणों को राजा की ओर से दी जाने वाली भूमि थी, जिस पर किसी भी प्रकार का कर नहीं लगता था।[35] वाकाटक अभिलेखों से यह जानकारी प्राप्त होती है कि राजा ने सभी राजस्व स्रोतों का नियंत्रण भी ब्राह्मणों को दे दिया था।[36] एक ऐसे काल में, जबकि भूमि अनुदान राजा के विशेष अनुग्रह का प्रतीक था, इस प्रकार के अनुदानों ने ब्राह्मणों को विशेषाधिकृत स्थिति को निश्चय ही और अधिक महत्व प्रदान किया गया होगा।[37]

क्षत्रिय :

भारतीय समाज के दूसरे महत्वपूर्ण अंग के रूप में क्षत्रिय प्रतिष्ठित थे। ऋग्वेद में इनकी उत्पत्ति परम पुरूष से बताते हुए, इन्हें ''राजस्व'' की उपाधि से विभूषित किया गया है।[38] ऋग्वेद में एक अन्य स्थान पर क्षत्रिय के लिए ''क्षत्र'' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ ''पराक्रम'' किया गया है।[39] आर्यो के तत्कालीन समाज में क्षत्रिय समूह के रूप में ऐसे शूरवीरों का वर्ग बन गया था जो यहां के मूल

निवासियों से युद्ध करके उनके भू क्षेत्रों पर आधिपत्य करता था।[40] ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध और राजपद वैदिक काल से ही एक दूसरे के पर्याय बन गये थे। इसी परम्परा का पुराणों ने भी निर्वहन किया है। विष्णु पुराण में निर्देशित है कि शस्त्र ही क्षत्रिय की श्रेष्ठ जीविका है।[41] जो क्षत्रिय रणभूमि से पलायन नहीं करते, उन्हें इन्द्र लोक की प्राप्ति होती है।[42] एक अन्य स्थल पर विष्णु पुराण में ''क्षात्र तेज'' की प्रशंसा की गयी है।[43] सम्भवतः प्रजा रक्षण में संलग्न होने के कारण क्षत्रिय की उत्पत्ति बाहु से बतायी गयी है, जो आपात काल में व्यक्ति की रक्षा करती है।

विष्णु पुराण के अनुसार क्षत्रिय को उचित है कि ब्राह्मणों को यथेष्ठ दान दे, विविध यज्ञों का अनुष्ठान करें और अध्ययन करें। इसके अतिरिक्त आगे बताया गया है कि शस्त्र धारण करना और पृथ्वी की रक्षा करना ही क्षत्रिय की उत्तम जीविका है, इनमें भी पृथ्वी पालन उत्कृष्टतर है। पृथ्वी पालन से राजा लोग कृतकृत्य हो जाते हैं क्योंकि पृथ्वी में होने वाले यचज्ञादि कर्मो का अंश राजा को ही मिलता है।[44] समस्तरीय व्यवस्था के अधिवक्ता याज्ञवल्क्य के अनुसार भी प्रजा पालन, यज्ञ, दान तथा अध्ययन, क्षत्रियों का मुख्य धर्म था।[45]

विष्णु पुराण क्षत्रियों के लिए याचना का निषेध करता है, एक स्थान पर वर्णित है कि उसे याचक नहीं होना चाहिए।[46] पुरूरवा के तेज

का वर्णन करते हुए उसकी यज्ञशीलता और यज्ञानुष्ठान को प्रशंसित किया गया है।[47] विदेह के शासक का वर्णन करते हुए पुराणकर्ता उसे अनेक यज्ञों का सम्पन्नकर्ता और प्रचुर धन का दान करने वाला बताया गया है।[48] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी उल्लेख प्राप्त होता है कि राजा द्वारा युद्ध में अपहृत धन को ब्राह्मणों और प्रजा में बांटना राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य था।[49]

वैश्य :

द्विजों की श्रेणी में अन्तिम पद वैश्यों का था। वैदिक साहित्य में वैश्यों को ''विश'' कहा गया है। ''विश'' का अर्थ जन समुदाय होता है।[50] सम्भवतः वैदिक युग में ब्राह्मण और राजन्य श्रेणी को छोड़कर, ''विश'' के अन्तर्गत शेष जन – समुदाय सम्मिलित था जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह वर्ग सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करता था तथा समाज के विभिन्न कार्यो में लगा रहता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गो की तुलना में इस वर्ग का कोई विशेष महत्व नहीं था और न ही इस वर्ग के विषय में कोई संतोषजनक जानकारी ऋग्वेद से मिलती है।[51] वैदिक आर्य मुख्यतः पशु पालक और चारागाही सभ्यता से सम्बन्धित थे, जिनकी सर्वाधिक मूल्यवान सम्पत्ति गाय और बैल थे।[52] ऐसी अवस्था और व्यवस्था में वैश्य महत्वपूर्ण बन ही नहीं सकते थे। आर्थिक प्रगति और दूसरी नागरिक क्रान्ति[53] के बाद वैश्यों की स्थिति मजबूत हो गयी। कृषि

के विस्तार ने अतिरिक्त उत्पाद्य को जन्म दिया और इसने वैश्यों की स्थिति को मजबूत किया। यही कारण है कि बौद्ध साहित्य में तथा मौर्य शुंग काल में समृद्ध व्यापारियों के लिए गृहपति शब्द प्रयुक्त होने लगा था।[54]

विष्णु पुराण में उल्लेख प्राप्त होता है कि लोकपितामह ब्रह्मा ने पशु पालन, वाणिज्य और कृषि वैश्य के जीवकार्य निश्चित किया था।[55] ब्रह्माण्ड पुराण में भी वैश्यों का धर्म अथवा कर्तव्य पशु-पालन, वाणिज्य और कृषि के रूप में उल्लिखित हुआ है।[56] कृषि और पशु-पालन तो वैदिक काल से ही विश से सम्बन्धित थे, पुराणों का यह वर्णन वैदिक परम्परा के अनुसार ही है, व्यापार बाद में वैश्यों के धर्म के रूप में परिगणित कर लिया गया। वैश्यों की इस स्वाभाविक वृत्ति के अतिरिक्त, अध्ययन, यज्ञ, दान और नित्य नैमित्तिकादि कर्मो का अनुष्ठान आदि कार्यो का विधान किया गया है।[57] वायु पुराण में भी यज्ञ, अध्ययन एवं दान को ब्रह्मा द्वारा वैश्यों के लिए निर्धारित कर्तव्य बताया गया है।[58]

ऐसा प्रतीत होता है कि एक स्थिति ऐसी आ गयी थी, जब कृषि, व्यापार और पशु-पालन का अलग-अलग वृत्तियों के रूप में विकास हो गया था। विष्णु पुराण में एक स्थल पर श्रीकृष्ण द्वारा संरक्षित गोप कहते हैं कि वे न तो कृषक हैं और न व्यापारी, हमारे देवता तो गौएं ही हैं क्योंकि हम वनचर है।[59] अन्वीक्षकी, त्रयी, दण्डनीय तथा वार्ता

में, वार्ता की विवेचना करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि वार्ता नाम की विद्या कृषि, वाणिज्य और पशु–पालन इन तीन वृत्तियों की आश्रयभूता है। वार्ता के इन तीन भेदों में से कृषि किसानों की, वाणिज्य व्यापारियों की और गो–पालन हम लोगों की उत्तम वृत्ति है।[60] इस विवरण से यह स्पष्ट है कि विवेच्य काल में कृषि, व्यापार और पशु–पालन तीनों ही अलग–अलग हो गयी थीं। सम्भवतः वैश्य जब कृषि कर्म से विमुख हो गये तथा उन्होंने अपने आपको पूर्णतः व्यापार एवं वाणिज्य से जोड़ लिया तब शूद्रों ने कृषि कार्य को अपना लिया, यद्यपि पुराणों में शूद्रों का कार्य द्विजों की सेवा ही बताया गया है।[61] ह्वेन सांग ने वैश्यों को व्यापारी जाति का ही माना है।[62] व्यापार में ही प्रवृत्त रहने के कारण, वैश्य समाज का सर्वाधिक धनिक वर्ग बन गया जो राजा को सबसे अधिक राजकर देता था।[63]

वैश्यों ने आर्थिक जगत में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया था, परन्तु अपनी सामाजिक स्थिति में वह सुधार नहीं कर पाये थे। अपनी समृद्धि के बावजूद वह समाज में निम्न माने जाते थे। विष्णु पुराण में वैश्यों का कर्म ब्राह्मण और क्षत्रिय के आश्रय आख्यात है।[64] वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वैश्यों की जीविका को राजा की अनुकम्पा पर आश्रित कहा गया है।[65] एक अन्य स्थल पर वायु पुराण में वैश्यों को पापी बताते हुए उनका वर्णन शूद्रों के साथ किया गया है।[66] वैश्यों से

सम्बन्धित एक अन्य वृत्ति जिसका उल्लेख विष्णु पुराण में तो नहीं प्राप्त होता है, परन्तु समकालीन समृतियों में प्राप्त होता है, वह है कुसीद अथवा ब्याज प्रथा। वैश्यों के अन्य धर्मो के साथ ब्याज लेना भी इस काल में जोड़ दिया गया था।[67] पराशर ने भी वैश्य के लिए ऋण पर ब्याज लेना भी उनकी वृत्ति में जोड़ दिया है।[68]

शूद्र :

समाज का चौथा वर्ग शूद्रों का था, इनकी भी उत्पत्ति दैवी मानी गयी है। शूद्र के अतिरिक्त इनके लिए 'वृषल' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[69] वृषल शब्द का प्रयोग कभी–कभी व्यक्ति की निम्न स्थिति को दर्शाने के लिए भी किया जाता है।[70] इस शब्द के प्रयोग की परम्परा उत्तर वैदिक कालीन है।[71] वेदों में शूद्रों के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में गर्हित ब्राम्हणों के वर्णन प्रसंग में शूद्रों के लिए वृषली का प्रयोग किया गया है।[72] मनुस्मृति में भी एक स्थल पर शूद्रा स्त्री के लिए वृषली शब्द का प्रयोग किया गया है।[73]

शूद्रों का प्रधान कर्म सेवा ही था।[74] विष्णु पुराण के अनुसार शूद्र का प्रमुख कार्य व कर्तव्य द्विजातियों के प्रयोजन सिद्धि के लिए सेवा है और इसी से उसे अपना पालन पोषण करना चाहिए, यदि इस वृत्ति से उसका निर्वाह न हो, तो उसे वस्तुओं के लेने बेचने अथवा कारीगरी के कामों से निर्वाह करने का अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब

व्यापार में पूरी तरह से लिप्त होने के कारण वैश्यों ने कृषि को छोड़ दिया, तब उस स्थिति में शूद्रों ने कृषि को अपना लिया था। ह्वेन सांग शूद्रों का वर्णन कृषकों के रूप में करता है। शूद्रों से सम्बन्धित जो भी विवरण हमें शास्त्रों से प्राप्त होता है, उससे यही प्रतीत होता है कि समाज में उन्हें सम्मानजनक स्थान नहीं प्राप्त था, वस्तुतः उनकी स्थिति बहुत दयनीय थी।

जाति व्यवस्था :

जाति की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए, मनु ने वर्ण संकरता के सिद्धान्त का आश्रय लिया है, उनके अनुसार विभिन्न जातियों की उत्पत्ति अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के कारण हुई। मनु के जाति प्रथा की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त के आलोक में ही याज्ञवल्क्य ने जातियों की उत्पत्ति दो रूपों में प्रस्तुत किया है - (1) अनुलोम विवाहों से उत्पन्न जातियां, (2) प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न जातियां। स्मृतिकारों द्वारा जाति की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रतिपादित सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता है। सम्भवतः स्मृतिकार जाति के उत्पत्ति के सिद्धान्त को व्याख्यापित करने में असमर्थ थे। यदि स्मृतिकारों के इस अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए तो मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारत में एक समय 'यौन अनाचार' की स्थिति आ गयी थी और यौन अभिचार अथवा यौन सम्बन्धों को स्थापित करने की

स्वतंत्रता इतनी बढ़ गयी थी कि एक बहुत बड़ी संख्या में वर्ण संकर उत्पन्न हो गये थे। इनकी संख्या इतनी ज्यादा थी कि इन्होंने अलग से एक सामाजिक वर्ग 'जाति' के रूप में उत्पन्न कर दिया, ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता है।

सम्भवतः ''वर्ण'' को ही आधार बनाकर जाति की व्याख्या करने के प्रयास के फलस्वरूप ही, वर्ण संकर के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया होगा। परवर्ती साहित्य में वर्ण के आधार पर जाति की व्याख्या की गयी है जिससे भ्रमवश दोनों को एक समझने की भूल की गयी, वर्ण के आधार पर जाति की व्याख्या करना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः जाति के उद्भव के पीछे अनेक कारण क्रियाशील थे यथा भौगोलिक विभाजन, क्षेत्रीय विभाजन, विभिन्न धार्मिक प्रथाएं, व्यवसाय सम्बन्धी विविधता, प्रजातियों का योगदान तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उद्भव इत्यादि। विष्णु पुराण में निम्नलिखित जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

संभवतः ''निषाद'' सबसे प्राचीन प्रजाति थी, जिसका जाति के रूप में उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है।[75] विष्णुपुराण में निषाद को विन्ध्यशैल का निवासी तथा पापकर्मा बताया गया है। इनकी उत्पत्ति नृप वैन के जंघ स्थल से मानी गयी है,[76] निषाद के स्वरूप के बारे में विष्णु पुराण का कथन है कि यह जले ढूढ़ के समान काला, अत्यन्त नाटा और

छोटे मुख वाला था। इसने उत्पन्न होते ही अपने कार्य के बारे में पूंछा, तब ब्राह्मणों ने इसे "निषीद" अर्थात बैठ जाने को कहा, इसी कारण यह निषाद कहलाया।[77] सुनीत कुमार चटर्जी ने इसे आस्ट्रिक और प्रोटो आस्ट्रलायड प्रजापति में से एक माना है।[78] मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति में इसे ब्राह्मण पुरुष और शूद्रा स्त्री से उत्पन्न बताया गया है।[79]

संभवतः शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न,[80] मानने के कारण, चाण्डाल की सामाजिक स्थिति हेय थी। मनु ने इसे निम्नतम माना है,[81] और याज्ञवल्क्य ने इसे सर्वधर्म बहिस्कृत घोषित किया है।[82] छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार इस योनि में वही लोग जन्म लेते हैं, जिनके पूर्व जन्म में कर्म असत् होते हैं।[83] विष्णुपुराण में चाण्डाल को पतित मानते हुए उसे कुत्ता और पक्षियों की श्रेणी में रखा गया है।[84] गौतम भी इन्हें कुत्ते और कौवे की श्रेणी में रखते हैं।[85] चाण्डाल की समाज में स्थिति बहुत ही दयनीय थी, यहां तक कि यदि उसकी दृष्टि श्राद्ध अन्न पर पड़ जाए, तो देवता और पितर अपना भाग नहीं ग्रहण करते हैं।[86] यहां पर उल्लेखनीय है कि मनु जैसे स्मृतिकार ब्राह्मणों को चारों वर्णो में विवाह करने की व्यवस्था का विधान करते हैं परन्तु चाण्डाल के प्रसंग में, वह चाण्डाल स्त्री के साथ सहवास का निषेध करते हैं।[87] मत्स्य पुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति चाण्डाल स्त्री का संग करता था, उसके साथ

भोजन करता था अथवा उसका प्रतिग्रह स्वीकार करता था, वह उसी श्रेणी का बजन जाता था।[88]

चाण्डालों को पुसालकर ने वैदिक "दास" वर्ग की एक जन-जाति माना है जो गंगा के मैदान में रहते थे। इन्होने भारतों के साथ प्रसार के दौरान किये गये अभियानों में, संघर्ष किया था।[89] प्राग् वैदिक युग के शासक वर्ग का वंशज, जब बाजार में प्रवेश करता था तो लकडिया बजाता हुआ चलता था कि जिससे लोग लकड़ी की आवाज सुनकर हटते जाएं और उसके स्पर्श से अशुद्ध न हों।[90]

यह भी एक प्राचीन जाति थी, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है।[91] विष्णुपुराण में उनका उल्लेख नदी तट के जातियों के प्रसंग में किया गया है।[92] अम्बष्ठ भी वैदिक कालीन शासक जाति थी, जिसकी शक्ति सिकन्दर के आक्रमण के समय तक नष्ट नहीं हुई थी। एरियन ने इनका उल्लेख अबष्ठनोई के रूप में किया है जो कि अस्किनी के तट पर बसे हुए थे।[93] कर्ण पर्व में भी एक अम्बष्ठ राजा का उल्लेख प्राप्त होता है।[94] मनु और याज्ञवल्क्य इन्हे ब्राह्मण और वैश्य नारी के संयोग से उत्पन्न मानते हैं।[95]

आभीर को भी अंबष्ठ के समान विष्णुपुराण में नदी तट की निवासी जाति के रूप में परिगणित किया गया है।[96] आभीर भी प्राचीन मणराज्यों में से एक थे। यूनानी लेखकों ने आभीरों को सोड्राई कहा है[97]

तथा टालमी और पेरिप्लस ने उनके राज्य को ''अवीरिया'' कहा है।[98] पतंजलि ने आभीरों को शूद्र कहा है[99], तथा महाभाष्य की टीका कशिका में उन्हें ''महाशूद्र'' कहा गया है।[100] मार्कण्डेय[101] तथा वायु पुराण[102] में इन्हें दक्षिणापथवासिनः कहा गया है। मनुस्मृति में आभीरों को ब्राह्मण और अबंष्ठा स्त्री के संयोग से उत्पन्न माना गया है।[103] महाभारत के अनुसार द्रविड़, आभीर, पुंड्र तथा शवर अपने क्षत्रियोजित कर्तव्यों की उपेक्षा तथा ब्राह्मणों से सम्पर्क न रखने के कारण शूद्र हो गये।[104]

कारूषों का भी विष्णुपुराण में उल्लेख नदी तटवासी के रूप में हुआ है।[105] मत्स्य पुराण में इसका उल्लेख मिश्रित जातियों के रूप में हुआ है।[106] मनु के अनुसार इसकी उत्पत्ति ब्रात्य वैश्य और उसी के समान नारी से होती है।[107] इस जाति को सुधन्वाचार्य, विजन्मन, मैच एवं सात्वत भी कहते हैं।[108]

मगध यथा मागधों का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है,[109] जहां पर उन्हें ब्रात्यों से संबंधित किया गया है।[110] जिमर ने अथर्ववेद और यर्जुवेद में उल्लिखित मागधों को वैश्य और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न बताया है, परन्तु यहां पर मागध का प्रयोग एक मिश्रित जाति के रूप में नहीं अपितु एक देश के वासी के रूप में किया गया है।[111] पार्जिटर का यह मत की मागध विदेशी थे, उचित नहीं प्रतीत होता।[112] विष्णुपुराण में मागधों का उल्लेख नदी तट की जातियों के प्रसंग से हुआ

है।[113] एक अन्य स्थल पर मागधों को शकद्वीपीय क्षत्रिय बताया गया है।[114] मनु और याज्ञवल्क्य इसे वैश्य पुरुष और क्षत्रिय नारी से उत्पन्न बताते हैं।[115] मौतम इसे वैश्य और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न[116] तथा बौधायन इसे शूद्र पुरुष और क्षत्रिय नारी से उत्पन्न[117] बताते हैं।

विष्णुपुराण में कलियुगीन राजाओं के संदर्भ में मलेच्छ का उल्लेख किया गया है।[118] यहां पर यह उल्लेखनीय है कि यह प्रसंग, सामान्य परिप्रेक्ष्य में न करके एक विशिष्ट जाति के रूप में व्रात्य एवं शूद्रों के साथ किया गया है जो विशिष्टता का ही संज्ञापक है अन्यथा विदेशियों तथा धर्मच्युत व्यक्तियों के लिए ही, 'म्लेच्छ' का प्रयोग किया गया है। सूत संहिता में म्लेच्छ की उत्पत्ति वैश्य पुरुष और ब्राह्मणी स्त्री से मानी गयी है।[119]

विष्णुपुराण में किरातों को पूर्व देशवासी माना गया है।[120] यह जाति हिमालय के तटवर्ती प्रदेश में निवास करती थी, [121] परन्तु पुराणों में इसे नदी के किनारे रहने वाली जाति बताया गया है।[122] मूलतः किरात मंगोल प्रजाति से संबंधित थे।[123] किरातों का उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है।[124] यास्क के आधार पर जिमन इन्हें आर्येतर मानते हैं परन्तु वेवर इन्हें आर्य मानते हैं।[125] पारंपरिक व्याख्याताओं में व्यास का उल्लेख कर सकते हैं, जिन्होनें किरातों को शूद्रों की एक उपशाखा माना है।[126] मनु इन्हें शूद्र की स्थिति में आया हुआ क्षत्रिय मानते है।[127] महाभारत के ऐतिहासिक युद्ध

में किरातों ने प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भागदत्त के अधिनायकत्व में पाण्डवों के विरूद्ध कौरवों के पक्ष में रह कर, युद्ध किया था।[128] दशकुमार चरित में किरातों के क्रूर कर्मो का उल्लेख किया गया है।[129] कुमार की बलि देने के पूर्व किरात मंत्रणा कर रहे थे कि उसे तलवार से काटा जाए या बालू में पैरों को गाड़कर पैने वाणों से मारा जाए या कुत्तों के पिल्लों से नुचवाकर मारा जाए।

विष्णुपुराण में विदेशी जातियों के साथ कम्बोजों का उल्लेख प्राप्त होता है।[130] महाभारत में भी कम्बोजों का उल्लेख शकों के साथ किया गया है।[131] इससे भी प्रमाणित होता है कि कम्बोज विदेशी थे। यास्क [132] और याणिनी[133] में इसका उल्लेख करते हैं।

विष्णुपुराण में सगर के द्वारा पराजित शक्तियों के रूप में पहलवों का उल्लेख प्राप्त होता है।[134] पराजित पहलवों को अपमानित और हीनत्व ही प्राप्त कराने के उद्देश्य से सगर ने उनकी दाढ़ी-मूंछ रखवा दिया था।[135] संभवतः पहलवों के दाढ़ी मूछं रखने की प्रथा नहीं थी। मनु इन्हे शूद्रों की श्रेणी में आया हुआ क्षत्रिय मानते है।[136] महाभारत में पहलवों का उल्लेख पारदों तथा अनार्य लोगों के साथ किया गया है।[137]

पारदों का भी उल्लेख विष्णुपुराण में सगर द्वारा पराजित शक्तियों में से एक के रूप में किया गया है।[138] पराजित पारों के वशिष्ठ के शरण में चले जाने के कारण, सगर ने उन्हे अपमानित करने के उद्देश्य से

लंबे-लंबे बाल रखवा दिये थे।[139] संभवतः पारदों में लंबे-लंबे बाल रखना उनकी मर्यादा के विरुद्ध था। महाभारत में अनार्यों और म्लेच्छों में परिगणित किया गया है।[140]

विष्णुपुराण में नृप सगर द्वारा पराजित शक्ति के रूप में शकों का उल्लेख हुआ है,[141] जिनको सगर ने अर्द्ध मुण्डित सिर वाला करा दिया था।[142] मनु ने शकों को यवनों के साथ वर्णित किया है और उन्हे शूद्रों की श्रेणी में, पतित क्षत्रिय माना है।[143] विवेच्य काल में शक उस समय पश्चिमी भारत में राज्य कर रहे थे।

सगर द्वारा पराजित राजाओं की श्रेणी में यवनों को भी रखा गया है, जिनके सर को सगर ने मुड़वा दिया था।[144] गौतम धर्मसूत्र में उल्लिखित आचार्यों के मत में यह शूद्र पुरूष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न है।[145] मनु ने यवनों को पतित क्षत्रियों की श्रेणी में माना है।[146] महाभारत में यवनों का उल्लेख शकों तथा अन्य अनार्यों के साथ वर्णित किया गया है।[147] भारतीय परम्परा वैसे विदेशियों को समग्र रूप से 'यवन' की कहती चली आयी है।

विष्णुपुराण में कैडिक्ल नाम के यवन जातीय अभिषेक रहित राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[148] वायु तथा ब्रह्मण्ड पुराणों के अनुसार कोलकिलों (किलकिलों) के 96 वर्ष के दीर्घ शासन के उपरान्त विन्ध्शक्ति

राजा हुआ।[149] किलकिलों को यवन तथा वृष कहा गया है, इससे प्रतीत होता है कि इस जनजाति के लोग विदेशी थे।[150]

विष्णुपुराण में व्रात्यों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[151] आपस्तम्बधर्मसूत्र तथा अन्य धर्मसूत्रों में व्रात्यों को ऐसी जाति वाला कहा गया है, जिसके पूर्वजों का उपनयन न हुआ हो,[152] किन्तु वौधायन व्रात्य को वर्ण संकर कहते हैं।[153] विष्णुपुराण में नर्मदा के तटवर्ती मरुभूमि पर राज्य करने वाले व्रात्य द्विजों का उल्लेख प्राप्त होता है।[154]

विष्णुपुराण में कैवर्तो का उल्लेख प्राप्त होता है।[155] मनु के कैवर्त को निषाद एवं आयोगण की संतान माना है।[156] मनु इसे भार्गव भी कहते हैं तैत्तिरीय संहिता में निषाद जाति वाले पुरूष आयोग व स्त्री जो सन्तान उत्पन्न करता था, उसे भार्गव कहा जाता था। वह नाव चलाकर अपनी जीविका अर्जित करता था, आर्यावर्त के लोग उसे केवट कहते थे।[157]

विष्णुपुराण में औरभ्रिकों का उल्लेख प्राप्त होता है।[158] सामान्यतया इस जाति के लोग भेड़ों को चराकर अपनी आजीविका का निवर्हन करते हैं। पाणिनी ने भी औरभ्रक शब्द का प्रयोग मेष समूह के अर्थ में किया है।[159] विष्णुपुराण में वर्णित है कि इस व्यवसाय को अपनाने वाले वहिन ज्वाल नरक में गिरते हैं।[160]

पुलिन्द भी प्राचीन जन-जातियों में से एक थे।[161] महाभारत के अनुसार पुलिन्दों की राजधानी भिलसा क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व में भी।[162] एक अन्य स्थल पर पुलिन्दों को हिमालयवासी कहा गया है।[163] उशना ने पुलिन्द को वैश्य पुरूष और क्षत्रिय नारी की अवैध सन्तान कहा है और पशुओं को पालने वाला एवं जंगली पशुओं को मारकर खाने वाला कहा है।[164] वैरवानस में भी इसी बात का उल्लेख प्राप्त होता है।[165]

कुम्हारों के लिए कुलाल शब्द का प्रयोग किया है।[166] वैदिक साहित्य में भी कुम्हारों के लिए कुलाल शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[167]

तैलपीड, तेलियों के व्यवसाय से सम्बन्धित थे।[168] विष्णु धर्म सूत्र में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।[169]

धोबी के लिए विष्णुपुराण में रजक शब्द का प्रयोग किया गया है।[170] यह जाति भी शूद्र मानी जाती थी।[171] वैरवानस इसे पुल्कस या वैदेहक तथा ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न माना है।[172] उशना इसे पुल्कस पुरुष और वैश्य कन्या की संतान मानते हैं।[173] विष्णुपुराण में रंगरेज अर्थात वस्त्रों को रंगने वाले को भी रजक कहा गया है।[174]

माली को विष्णुपुराण में मालाकार कहा गया है।[175] व्यास स्मृति में भी माली के कार्य करने वाले को मालाकार कहा गया है।[176] विष्णुपुराण मर्में माली द्वारा श्रीकृष्ण और बलराम को अति निर्मल और सुगन्धित मनोहर पुष्प देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[177]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विष्णु पु0 1/22/23-25

2. जोन्स, एम.ई. : बेसिक सोसियोलाजिकल प्रिन्सपल्स पृ0 195

3. आर एस0 मैकाइवर एवं सी एच पेज : सोसाइटी पृ0 5

4. मिश्र जयशंकर : प्रा0 भा0 सा0 ई0 पृ0 74

5. घुर्ये जी0 एस0 : वैदिक इण्डिया पृ0 205

6. ऋग्वेद 1/13/7, 2/3/5, 9/97/15

7. काणे : हि0 ध0 शा0, जिल्द 2, भाग 1, पृ0 25

8. विष्णु पु0 2/4/30

9. महा0 शान्ति पर्व 188/5

10. वही 18/5 पर नीलकण्ठ की टीका

11. विष्णु पु0 3/8/24

12. वही 3/8/22

14. तै0 सं0 1/7/3/1

15. वही 4/4/45-46

16. ऐतरेय ब्राह्मण 18/24

17. गौतम धर्म सूत्र 10/2, विष्णु स्मृति 2/5

18. विष्णु पु0 5/38/39

19. महा0 अनु0 71/19

20. रामायण 3/313/111

21. महा0 2/12/24

22. वही 60/8/29

23. ऐतरेय ब्रा0 306/2/8-9

24. अर्थशास्त्र 3/5

25. वायु0 पु0 50/199 ब्राम्हणेभ्यो मुखमेतत्तु दैवतम्। ब्रम्हाण्ड पु0 2/21/149

26. विष्णु पु0 4/13/122-23

27. गौ0 घ0 सू0 10/1/2 – ब्राम्हणस्याधिकाः प्रवचन याजन प्रमिग्रहा।

28. व0घ0सू0 17/84-87 न तु ब्राम्हणस्य राजा हरेत। ब्रम्हस्वं तु विषं घोरम्। न विषं विषमित्याहुर्ब्रहस्वं विषमुच्यते। विषमेकाकिनं हन्ति ब्रम्हस्वं पुत्रपौत्रकमिति।

29. अर्थशास्त्र 2/1

30. मनु0 7/133

31. वर्न्स, ई0 एम0 : हिस्ट्री आफ वेस्टर्न सिबलाइजेशन भाग–2, पृ0 330

32. वही पृ0 462

33. वही पृ0 587

34. थापर रोमिला : भारत का इतिहास, पृ0 110

35. इंडि0 ऐंअि0 1927, पृ0 51

36. झा0 डी0 यन0 : मौर्योत्तर तथा गुप्तकालीन राजस्व व्यवस्था पृ0 126

37. थापर रोमिला : भा0 ई0 पृ0 111

38. ऋग्वेद 1/157/2

39. मिश्र, जयशंकर : प्रा0 भा0 सा0 इ0 पृ0 77

40. विष्णु पु0 3/8/27 – शत्राजीवो महीरक्षाप्रवरा तस्य जीविका

41. विष्णु पु0 1/6/34–35 स्थानमैन्द्र क्षत्रियाणां संग्रामेष्वनि वर्तिनाम्

42. वही 1/11/38 .... अहो क्षात्रं पर तेजो .... ।

43. वही 3/8/26–28

44. विष्णु पु0 3/7/6

45. याज्ञ0 1/118–119

46. वही 4/6/36 - पुरूखास्त्वतिदान शोलीऽतियत्वा ....।

47. याज्ञ0 1/323

48. ऋग्वेद 10/124/8 - ता ई विशो न राजानां वृणानां वीभत्सवो अप वृत्रादतिष्ठन्

49. मिश्र जयशंकर : प्रा भा सा ई पृ0 78

50. वैदिक एज : पृ0 399

51. वही पृ0 399-400

52. वही

53. वही

54. महावग्ग 6/28/4, दीघ निकाय 1, पृ0 67

55. विष्णु पु0 3/8/30

56. ब्रह्माण्ड पु0 2/7/162

57. विष्णु पु0 3/8/31

58. वायु पु0 8/172

59. विष्णु पु0 5/10/26

60. विष्णु पु0 5/10/28-29

61. शर्मा, आर0 एस0 शूद्राज इन एंशिएंट इण्डिया पृ0 150-75

62. वाटर्स : भाग 1, पृ0 168

63. महा 2/4/28 – वैश्य इव करप्रदा

64. विष्णु पु0 3/8/32

65. वायु0 पु0 63/10 वैश्यैरपि ... पृथुरेव ... वृत्तिदाता, ब्रह्माण्ड पृ0 2/37/10-11

66. वायु0 पु0 30/320

67. याज्ञ0 1/118-119

68. पाराशर 1/66

69. विष्णु पु0 3/15/8

70. मनु0 10/43

71. वृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/18

72. विष्णु पु0 3/15/8

73. मनु0 4/154

74. मत्स्य पु0 142/50 ... परिचारयज्ञा ... शूद्राश्च।

76. विष्णु पु0 3/8/32

77. वही

78. वाटर्स 1, पृ0 168

79. मनु0 10/5, 8, 10 याज्ञ0 1/91

80. वही 1/93

81. मनु0 10/12

82. याज्ञ0 1/93

83. छान्दो0 उप0 5/10 कमूपचरणा अभ्याशो ... चाण्डालयोनिं वा।

84. विष्णु पु0 3/11/55 - श्वचाण्डाविहंमानां

85. गौ0 ध0 सू0 4/15-16, 15/26

86. विष्णु पु0 3/16/12-13

87. मनु0 4/78 - न संवसेच्य पतितैर्न चाण्डालैर्न ... ।

88. मत्स्य पु0 184/56

89. वैदिक एज पृ0 253

91. ऐत0 ब्रा0 39/7

92. विष्णु पु0 2/3/18

93. वैदिक एज पृ0 262

94. महा0 कर्ण पर्व 6/11

95. मनु0 10/8, याज्ञ0 1/91

96. विष्णु पु0 2/3/18

97. राय, यू0 एन0, गु0 सं0 का0 पृ0 130

98. वही पृ0 131

99. महाभाष्य 9/37/1

100. मिश्र, श्याम मनोहर, द्वारा दक्षिण भारत के राजनैतिक इतिहास में उद्धत पृ0 182

101. मार्क0 पु0 57/45-48

102. वायु0 पु0 45/126

103. मनु0 10/15

104. महा0 अश्वमे0 पर्व0 29/15-16

105. विष्णु पु0 2/3/16

106. मत्स्य पु0 114/48

107. मनु0 10/23

108. काणे : ध0 शा0 इ0 भाग पृ0 129

109. अथर्ववेद 5/22/14

110. वही 15/2/1-4

111. वैदिक एज, पृ0 259-260

112. जे0 आर0 ए0 एस0 पृ0 852

113. विष्णु पु0 2/3/16

114. वही 2/4/69

115. मनु0 10/11, याज्ञ0 1/93

116. गौतम 4/6

117. बौधायन 1/9/7

118. विष्णु पु0 4/24/69

119. काणे, वही भाग 1, पृ0 136

120. वही पु0 2/3/8

121. वही

122. वायु पु0 47/48

123. ब्रह्माण्ड पु0 2/17/50

124. ऋग्वेद 3/53/14

125. वैदिक एज, पृ0 152

126. व्यास 1/10-11

127. मनु0 10/43-44

128. वैदिक एज, पृ0 306

129. दशकुमार चरितम् पृ0 32

130. विष्णु पु0 4/3/42

131. महा0 उद्योग पर्व 160/103, द्रोण पर्व 121/13

132. निरुक्त 2/2

133. पाणिनि 4/1/175

134. विष्णु पु0 4/3/42

135. वही 4/3/47

136. वही 4/3/42

137. महा0 सभापर्व 51/12, 52/3 द्रोण पर्व 93/42

138. वही 4/3/47

139. विष्णु पु0 4/3/42

140. महा0 सभापर्व 51/12, 52/3 द्रोण पर्व 93/42

141. वही 4/3/47 – अर्द्धमुण्डितांच्छकान् ... ।

142. विष्णु पु0 4/3/47 ... यवनान्मुण्डिताशिरसी ... ।

143. मनु0 10/43-44

144. विष्णु पु0 4/3/47 ... यवनान्मुण्डिताशिरसी ... ।

145. गौतम 4/17

146. मनु 10/43-44

147. महा0 सभापर्व 23/16-17, भीष्मपर्व 20/13

148. विष्णु पु0 4/24/55

149. पार्जिटर : डाइनेस्टिज आफ कलि एज, पर उद्धृत पृ0 48

150. मिश्र श्याम मनोहर, द. भा. रा. इ. पृ0 193

151. विष्णु पु0 4/24/69

152. आप. ध. 1/1, 1/22-1, 1/2/10

153. बौधा0 1/9/15

154. विष्णु पु0 4/24/68 ... नर्मदामरुभूविषयांश्चव्रात्यद्विजा ... भोष्यन्ति।

155. वही 4/24/62

156. मनु 10/34

157. तै0 सं0 10/34

158. विष्णु पु0 2/6/26

159. अष्टाध्यायी 4/2/39

160. विष्णु पु0 2/6/26

161. ऐतरेय ब्रा0 33/6

162. महा0 वनपर्व, 140/25

163. वैदिक एज पृ0 265

164. उशना-15

165. वैखानस 10/14

166. विष्णु पु0 2/8/29

167. तैत्तरीय ब्रा0 3/4/1, शत0 ब्रा0 9/8/1

168. विष्णु पु0 2/12/27

169. विष्णु धर्म सूत्र 51/15

170. विष्णु पु0 2/19/14

171. वही

172. वैखानस 10/15

173. उशना 18

174. विष्णु पु0 5/19/14 - ततो दृष्ट्वा रजकं रंगकारकम्।

175. वही 5/19/17

177. वही

अध्याय – 3

कर्म संकरता का सिद्धान्त

कर्म संकरता का सिद्धान्तः

विष्णुपुराण में 'कर्म संकरता'' के विलक्षण सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गयी है। विष्णुपुराण के अनुसार किसी भी स्थिति में कर्म संकरता अथवा कर्मों का व्यामिश्रण नहीं करना चाहिए।[1] श्रीधर उपर्युक्त श्लोक का भाष्य करते हुए लिखा है कि क्षत्रिय, वैश्य तथा ब्राह्मण आदि वर्णो को यथाशक्ति अपने लिए निर्धारित कर्मों का ही अनुपालन करना चाहिए, कर्म संकरता की वृत्ति का परिहार अथवा परित्याग करना चाहिए।[2] वस्तुतः स्मृतियों में प्रतिपादित वर्ण धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या, विष्णुपुराण में अन्य पुराणों तथा स्मृतियों की तुलना में कहीं अधिक वैज्ञानिक ढंग से इसे ''कर्मसंकरता'' का नाम देकर प्रस्तुत किया गया है।

स्मृतिकारों ने वस्तुतः वर्ण संकरता, जाति, और वर्णधर्म को एक दूसरे सम्पृक्त कर दिया था। याज्ञवक्ल्य जैसे मनिषियों ने तो वस्तुतः जाति व्यवस्था की व्याख्या, अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों को आधार बनाकर की है। छान्दोग्य उपनिषद में इसी प्रकार की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है।[3] बृहस्पतिवार के अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनो जातियों को वर्णसंकर कहा है।[4] वौधायन वर्णसकरों को व्रात्य कहते हैं।[5] मनु ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जब किसी वर्ण के सदस्य दूसरे वर्ण की नारियों से संभोग

करते हैं, ऐसी नारियों से विवाह करते हैं, जिनसे नहीं करना चाहिए (यथा सगोत्र कन्या से) तथा अपने वर्णों के कर्तव्यों का पालन नहीं करते हैं, तब वर्ण संकर की उत्पत्ति होती है।[6]

वर्ण संकरता रोकने के लिए स्मृतिकारों ने राजाओं को उद्‌बोधित किया है कि वे (नृप गण) ऐसे व्यक्तियों को दण्डित करें जो वर्णों में बने हुए नियमों का उल्लंघन करते हैं। गौतम ने लिखा है कि शास्त्रों के नियमों के अनुसार राजा को वर्णो एवं आश्रमों की रक्षा करनी चाहिए ओर वे जब अपने कर्तव्यों से च्युत होने लगें तो उन्हे ऐसा करने से रोका जाना चाहिए।[7] गौतमी पुत्र शातकर्णी की प्रशंसा उसके द्वारा चारो वर्णो में वर्णसंकरता रोकने के कारण की गयी है,[8] परन्तु इसी प्रसंग में उल्लेखनीय है कि इसी वंश के एक अन्य शासक वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने एक नरेश रूद्रदामन की कन्या से विवाह किया था।[9] वस्तुतः ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में विदेशी आक्रमणों के कारण परिस्थितियां ही ऐसी उत्पन्न हो गयी थी जो कि पुरातन सामाजिक व्यवस्था को आघात पहुंचा रही थी। विदेशी आक्रमणों और स्मृतियों के निबन्धन के आरम्भ का काल लगभग एक सा ही है। पुराणों ने इस परम्परा का निर्वहन, दूसरे प्रकार से किया है। स्मृतिकारों की अपनी सीमाएं थी, वह अपनी बात को एक निश्चित माध्यम से और सीमाओं में बंध कर ही कह सकते थे, जबकि पुराणों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं था, वह आख्यानों, पूर्व प्रचलित वृतान्तों, कथाओं और रूपकों के

माध्यम से अपनी बात को स्पश्ट और प्रभावशाली रूप से कह सकते थे। इस सन्दर्भ में हाजरा ने हमारा ध्यान विष्णुपुराण के उन स्थलों की ओर आकर्षित किया है, जिसकी समयावधि भारतीय इतिहास के उस उल्लेखनीय स्तर से सम्बन्धित है, जबकि उत्तर भारत में कुषाणों की सत्ता का अवसान हो रहा था औ गुप्तवंश के उदय की भूमिका तैयार हो रही थी। अनुमानतः यह समयावधि तृतीय शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध एवं चतुर्थ ईस्वी के पूर्वार्द्ध के मध्य की स्थिति थी। यद्यपि कि बी०एन० पुरी यूनान, पार्थियन, शक एवं कुषाणों के आक्रमण के प्रभाव को भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर नगण्य मानते हैं,[10] परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती। इसमें कोई संदेह नहीं कि पुराणों नें वर्णन में अतिरंजना का आश्रय लिया है, परन्तु "मिलिन्द पन्ह" इत्यादि पुराणेतर ग्रन्थों के साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, विष्णु पुराण अथवा पुराणों के इस वर्णन की यर्थाथता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। पुराणों के कलियुग वर्णन खण्ड में, विदेशी आक्रमणकारियों के क्रिया-कलाप, उनकी गतिविधियों के कारण राजनीतिक पटल पर उथल-पुथल विपर्मय, सामाजिक सरंचना के पारम्परिक प्रारूप पर व्याघात तथा चातुर्वण्य व्यवस्था के विसंतुलन का सविस्तार चित्रांकन हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें विदेशी आक्रमणों की जाति विहीनता, दुराचार एवं पापाचरण तथा इनकी परम्परा विरोधी प्रवृत्ति बार-बार बल दिया गया है।[11]

पुराणों के उक्त कलियुग वर्णन में एक अन्य ऐसा स्थल प्राप्त होता है, जिससे प्रतीत होता है कि समाज का नैतिक स्तर काफी नीचे गिर चुका था, गृही और गृहिणी के पारस्परिक, पारम्परिक धार्मिक कृत्यों का स्थान गौण हो चुका था, इसमे वासना की प्रधानता आ चुकी थी, स्त्रियों को मात्र काम वासना की पूर्ति का विषय माना जाता था। यहां पर एक संभावना यह भी व्यक्त की जा सकती है कि पुराणों का यह विवरण संभवतः कल्पना-प्रसूत हो परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही थी। आलोचित कालावधि में विदेशी जातियों के आक्रमक एवं संक्रामक गतिविधियों के कारण, भारतीय समाज को पारम्परिक मान्यताओं में अधिकांश विपर्यास की स्थिति आ रही थी-एकसी सम्भावना के समर्थनार्थ एक वैदेशिक एवं संक्रामक एवं वैदेशिक साक्ष्य को प्रस्तावित किया जा सकता है। प्रसंगित साक्ष्य Laws of countries by Bar Desances के आलोचना-अनुकूल को बी0एन0 मुकर्जी ने कुषाणकालीन समाज के संदर्भ में महत्वपूर्ण माना है। उक्त स्थल के अनुसार बख्त्री जातियों में जिसे कुषाण की संज्ञा प्रदान की जाती है, उनकी स्त्रियो पुरूषों के आकर्षक अलंकार धारण करती हैं, जो सोने और मोती के बने होते हैं, इनमें आचरण विषयक शुचिता का नितान्त अभाव रहता है, इनका यौवन सम्बन्ध अपने दासों अथवा उनके देश के विदेशी यात्रियों से रहता है, ऐसी स्त्रियों की स्वछन्द विहार, वासना-लोलुपता एवं एतदर्थ अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए पूरी छूट प्राप्त रहती थी।[12] संभवतः इसी

सामाजिक पतन की अवस्था को ध्यान में रखते हुए, भगवद्गीता में विवृत किया गया है कि जब नारियां व्यभिचारिणी हो जाती हैं तो वर्ण संकरता उपजती है।[13]

कुषाणों के समाज में व्याप्त इस उच्छ्खृलता की ऐतिहासिक व्याख्र करते हुए मुकर्जी ऐसी पृच्छा प्रस्तावित करते हैं कि उक्त स्थल जो तत्कालीन समाज ने नैतिक स्तर के पतन का द्योतक है, वैक्ट्रियन समाज की स्थिति का संज्ञापक है अथवा इसे उक्त साक्ष्य में सम्बन्धित बख्त्री–कुषाणों के संक्रमण एवं आक्रमण द्वारा प्रभावित भारतीय समाज का द्योतक माना जा सकता है। मुखर्जी की पृच्छा का उत्तर उक्त पौराणिक साक्ष्य में ढूढा जा सकता है, जिसके अनुसार पतनशील नैतिक आचरण वाले विदेशी आक्रान्ताओं का भारतीयों की आचरणशीलता का दुष्प्रभाव पड़ा था। बी0एन0 मुखर्जी के इस अनुमानपरक निष्कर्ष को स्वीकार करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि आचोचित अवधि के व्यापारियों तथा अन्य समृद्धिशाली तथा प्रभावशाली लोगों के ऐश्वर्य एवं सम्पत्ति का अनुमान प्रचुर संख्या में मिलने वाले दान के संज्ञपक अभिलेखों द्वारा लगाया जा सकता है कि यही वर्ग अपनी सम्पत्ति का उपयोग मानव सुलभ सहज प्रकृति की प्रेरक शुचिता–च्युत संदर्भ में लगा रहा होगा।[14]

विष्णुपुराण में अनेक स्थल पर राजाओं के वंशावली की विवेचना करते हुए, पुराणकार ने कई क्षत्रिय राजवंशों को ''क्षत्रोपते द्विजातयः'' अथवा ''

क्षत्रोपेत द्विज के नाम से अभिहित किया है।[15] इस प्रकार की श्रेणी में रथीतर का उल्लेख किया जा सकता है। जो क्षत्रिय संतान होते हुए भी आंगीरस कहलाए, अतः क्षत्रेपेत ब्राह्मण हुए।[16] एक अन्य स्थल पर वृत्त किया गया है कि वर्ग से शिनि का जन्म हुआ जिससे कि गार्ग्य और शैन्य नाम से विख्यात क्षत्रोपेत ब्राह्मण उत्पन्न हुए।[17] महावीय का पुत्र दुरुक्षय हुआ तथा उसके त्रय्यारुणि, और कपि का नाम तीन पुत्र हुए ये तीनों पुत्र पीछे ब्राह्मण हो गये।[18] उपर्युक्त श्लोकों पर व्याख्या करते हुए श्रीधर कहते हैं किसी कारण से ब्राह्मण हो गये थे। ये अपना कोई निश्चित मत प्रकट नहीं करते हैं।[19] इसी प्रसंग में अजमीठ के कण्व और कण्व से मेधातिथि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसके काण्वायन ब्राह्मण उत्पन्न हुए।[20] मुद्गल से मौदल्य नामक ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई।[21] इस प्रसंग में भी श्रधर अपना कोई निश्चित मत न प्रकट कर, भाष्य में इन्हे किन्ही कारणों से ब्राह्मण हुआ बताते हैं,[22] जिन कारणों से यह ब्राह्मण हुए थे, उन कारणों की व्याख्या वह नहीं करते।

स्मृतियों के जात्युकर्ष एवं जात्यपकर्ष के सिद्धान्त[23] के आलोक में क्षत्रोपेत ब्राह्मणों की उत्पत्ति को समझने का प्रयास किया जा सकता है। गौतम ने लिखा है कि आचार्यो के अनुसार- अनुलोम लोग अब इस प्रकार विवाह करते हैं कि प्रत्येक स्तर में जब वर जाति में दूल्हन से उच्चतर या निम्नतर होता है, वे सातवीं या पाचवीं पीढ़ी में ऊपर उठते हैं। (जात्युत्कर्ष)

या नीचे जाते हैं। (जात्यपकर्ष)।[24] मनु के अनुसार, जब कोई ब्राह्मण किसी शूद्रा से विवाह करता है तो उससे उत्पन्न कन्या ''पारशव'' कहलाती है यदि पारशव लड़की किसी ब्राह्मण से विवाह करती है और पुनः इस विवाह से उत्पन्न लड़की किसी ब्राह्मण से विवाहित होती है तो इस प्रकार पुत्र सातवीं पीढ़ी ब्राह्मण होगी अर्थात जात्युकर्ष होगा। ठीक इसके प्रतिकूल यदि कोई ब्राह्मण शूदा से विवाह करता है और पुत्र उत्पन्न होता है तो वह पुत्र ''पारशव'' कहलाता है और जब ''पारशव'' पुत्र किसी शूद्रा से विवाहित होता है और उसका पुत्र पुनः वैसा करता है तो इस प्रकार सातवीं पीढ़ी पुत्र से केवल शूद्र हो जाता है। इस जात्यपकर्ष कहा जाता है। जार्ज वूलर ने मनु पर (10/64) पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि मेघातिथि, गोविन्द, कुल्लुक राघवेन्द्र के अनुसार यदि यह ब्राह्मण एवं शूद्रा से उत्पन्न, कन्या से उत्पन्न संताति का विवाह, ब्राह्मणों में ही हो तो छठवीं पीढ़ी में उत्पन्न कन्या, ब्राह्मणी बन जाती है। नारायण और नन्द इसकी व्याख्या अलग तरीके से करते हैं, उनके अनुसार यदि '' पारशव'' (ब्राह्मण एवं शूद्रा से उत्पन्न पुत्र) एक अति उत्कृष्ट पारशवी से विवाह करता है, जो अच्छे गुणों वाली और उच्च चरित्र वाली हो और यदि उसके वंशज इसी प्रकार का वैवाहिक संबंध स्थापित करते रहते हैं तो छठवीं पीढ़ी ब्राह्मण हो जाती है, यदि कोई निषाद (ब्राह्मण और शूद्रा से उत्पन्न संतान) किसी निषादी से विवाह करता है और यह क्रम चलता रहता है तो पांचवी पीढ़ी शूद्र की

गर्हित स्थिति में छुटकारा पा लेती है और सन्तानों का उपनयन संस्कार हो सकता है अर्थात् उनके लिए वैदिक यज्ञ किये जा सकते हैं।[25] मनु और गौतम के सिद्धान्तों में थोड़ी भिन्नता होने के बाद भी दोनों में मूल तत्व अपकर्ष और उत्कर्ष में समानता है। मनु और गौतम का यह मत समाज में कितना ग्राह्य रहा होगा, यह सन्देह का विशय है। पांच अथवा सात पीढ़ियों तक वंशक्रम को याद रखना तथा ऐसे युग में जबकि जातिगत नियम कठोर होते जा रहे थे, उस समय अपने जाति से बाहर विवाह कर, उसे पुनः अपनी जाति की मान्यता प्रदान करा देना, अपने आप में एक असंभव कार्य लगता है। मनु के इस विधान से सहमत नहीं हुआ जा सकता।

याज्ञवल्क्य ने विवाह के अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन इस सम्बन्ध में किया है, वह है व्यवसाय। यदि जाति या धर्म की वृत्ति या पेशा में परिवर्तन पाया जाता है तों उसमें भी वर्ण के समान पांचवी और सातवीं पीढ़ी में जात्पकर्ष पाया जाता है।[26] यदि कोई ब्राह्मण, शूद्र वृत्ति अपनाए और उसमें उत्पन्न पुत्र भी वैश करे तो इस क्रम से आगे चलकर सातवीं पीढ़ी की संतान शूद्र हो जाएगी। यदि कोई ब्राह्मण किसी वैश्य या क्षत्रिय की वृत्ति अपनाए तो इस क्रम से आगे चलकर क्रम में पांचवी और सातवीं संतान क्रमशः वैश्य और क्षत्रिय हो जायेगी। यदि किसी प्रकार कोई क्षत्रिय या वैश्य, शूद्र वृत्ति को अपना ले तो उसकी पांचवी और छठीं पीढ़ी शूद्र हो जायेगी।

पार्जिटर ने ''क्षेत्रोपेत'' की समस्या को एक अलग प्रकार से सुलझाने का प्रयास किया है। उन्होने ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के आपसी सम्बन्धों के माध्यम से इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है, उनके अनुसार ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य प्रतिद्वन्दिता मुख्यतः तीन प्रकार की थी।[27]

1. राजा द्वारा किसी ब्राह्मण का अपमान, विवाद, चोट पहुचाना अथवा हत्या कर देना।

2. राजा द्वारा धार्मिक विधि- विधानों को स्वयं ही सम्पादित करने का प्रयास, जिससे कि ब्राह्मणों के हितों को आघात पहुचा हो।

3. जब किसी क्षत्रिय ने ब्राह्मणत्व पाने का प्रयास किया हो।

प्रथम श्रेणी में ही अधिकांशतः उदाहरण प्राप्त होते हैं, द्वितीय श्रेणी में पार्जिटर जनमेजय का उदाहरण, यूरोप के चर्च राज्य के संबंधो को ध्यान में रखे हुए देते हैं।[28] इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि भारत में कभी भी राजा और पुरोहित वर्ग के बीच संघर्ष की ऐसी स्थिति नहीं आयी थी जैसी कि मध्य यूरोप में चर्च और राज्य के सम्बन्ध में देखने को मिलती है। पार्जिटर निश्चित रूप से मध्य यूरोपीय चर्च और राज्य के मध्य संघर्ष से प्रभावित प्रतीत होते हैं, उनके मत को भारतीय परिपेक्ष्य में सवीकार नहीं किया जा सकता है। तीसरे वर्ग में वह वशिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष को व्यक्तिगत ''संघर्ष की संज्ञा'' प्रदान करते हैं जो उचित प्रतीत होता है।

वशिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष को ब्राह्मण और क्षत्रियों का संघर्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि वशिष्ठ में माता-पिता ब्राह्मण नहीं थे। वशिष्ठ की माता उर्वशी (अप्सरा) और पिता मित्र वरूण थे।[29]

स्मृतियों और पुराणों में आपद्धर्म की व्यवस्था की गयी है। विष्णुपुराण के अनुसार आपात्काल में ब्राह्मण सैनिक वृत्ति अपना सकते थे। गौतम के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय कर्म कर सकता था।[30] मनु ने भी अपने कर्म से जीवन निर्वाह करने में असमर्थ होने पर ब्राह्मण क्षत्रिय कर्म अपना सकता था।[31] मेघातिथि ने उपर्युक्त श्लोक पर व्याख्या करते हुए, इस संबंध में ग्राम और नगर रक्षा के साथ "देश" को और जोड़ देते हैं।[32]

वैदिक काल में वर्ण परिवर्तन सहज था, विश्वामित्र आदि ऐसे क्षत्रियों का एक वर्ग था, जिन्होने अपना सब कुछ परित्याग कर, ब्राह्मणत्व धारण कर लिया था। दूसरे काक्षीवन्त ऐसे निम्नकुल के व्यक्तियों का वर्ग था, जो ब्राह्मण बन गये थे। तीसरे क्षत्रियों का एक वर्ग ऐसा भी था जो ब्राह्मण तो बन गये थे। परन्तु जिन्हें अपने क्षत्रत्व का परित्याग नहीं किया था। सूर्य तथा चन्द्र वंश दोनों में ही इस प्रकार "क्षत्रोपेत ब्राह्मण" आ गये थे।[33] ऐसा प्रतीत होता है कि यह परम्परा बाद तक चलती रही।[34] पार्जिटर ने इस संबंध में, भारत के बाद का उदाहरण देते कहा है कि भारत के उत्तराधिकारियों ने अपने को पूर्व के ब्राह्मण वंश (भारद्वाज) से जोड़े रखा क्योंकि भारत ने गोद लेकर अपनी वंश परम्परा को जीवित रखा था। अतः वे क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण

अथवा क्षत्रिय-ब्राह्मण उभय रूप से जाने जाते थे।[35] "क्षत्रोपेतद्विज" और विश्वामित्र जैसे ब्राह्मण में मूलतः अन्तर यह था कि जहां पर विश्वामित्र ने अपने क्षत्रित्व का पूर्णतः परित्याग करके ब्राह्मणात्व को प्राप्त किया था, वहीं पर इस वर्ग ने इस प्रकार का कोई कदम नहीं उठाया था। क्षत्रोपेत ब्राह्मणों ने युवराज और उससे संबंधित वंशज क्षत्रियोचित संस्कारों को अपनाने के कारण क्रमशः क्षत्रिय होते चले गये परन्तु उसी गोत्र तथा वंश के अन्य व्यक्ति जिन्हें राजत्व नहीं प्राप्त था अथवा जो राजत्व ने जुड़े थे वह शुद्ध ब्राह्मणों की श्रेणी में बने रहे।[36] इन क्षत्रोपेत ब्राह्मणों ने अपने पूर्व के गोत्र से अपने पूर्व के गोत्र से अपने आप को जोड़ रखा।

इस सम्बन्ध में धृष्ट्र का उदाहरण दिया जा सकता है, जिनसें धृष्ट्रक क्षत्रियों का वंश आरम्भ हुआ था। इस वंश के लोग वाहीक (पंजाब) के आस-पास राज्य करते थे। इन्हें कभी ब्राह्मण के रूप में वर्णित किया गया है, कभी क्षत्रिय तो कभी वैश्य[37] कारम्बेलकर ने भृगु वंशीय ब्राह्मणों का उदाहरण देते हुए कहा है कि भृगुकुल लड़ाकू ब्राह्मणों का एक वर्ग था जिनका क्षत्रिय के साथ वैवाहिक संबंध था। ये लोग युद्ध विद्या में प्रवीण होते थे।[38] वस्तुतः वर्ण व्यवस्था में किसी प्रकार के गतिरोध ने होने के कारण, वर्ण परिवर्तन आरम्भ में मुश्किल न था, मुख्यतः किसी वृत्ति अथवा व्यवसाय से जुड़ जाने पर ही व्यक्ति का वर्ण, उसके व्यवसाय के अनुसार निर्धारित हो जाता था।

पुराणों के संकलन के समय, वस्तुस्थिति में परिवर्तन हो गया था। अतः पुराणों के संकलनकर्ताओं ने समय-समय पर अपनी दृष्टि से ''क्षत्रोपेत ब्राह्मणों'' को व्याख्यापित करने का प्रयास किया। परिस्थितियां बदल चुकी थी, समाज बदल चुका था तथा समय बीत चुका था, परन्तु पुरानी मान्यता, परम्परा, अक्षण्णु रूप से वर्तमान थी। अतः पुरातन की व्याख्या नये मानकों, नयी परम्पराओं के आलोक मे की गयी। भागवत में रथीतरों को जिन्हें ''क्षत्रोपेत ब्राह्मण'' कहा जाता है,[39] के क्षत्रोपेत होने की व्याख्या अलग प्रकार से की गयी है जो प्राचीन परम्परा से व्यवच्छिन्नता को प्रदर्शित करती है अम्बरीय के तीन पुत्र थे विरूप, केतुमान और शम्भु। विरूप से पृषदश्व और उसका पुत्र रथीतर हुआ।

रथीतर सन्तानहीन था, वंश परम्परा की रक्षा के लिए उसके ऋषि अंगिरा से प्रार्थना की, उन्होनें उसकी पत्नी से ब्रम्हतेज से कई पुत्र उत्पन्न किये। यद्यपि कि ये सब रतीथर की भार्या से उत्पन्न हुए, इसलिए इनका गोत्र वहीं होना चाहिए था जो रथीतर का था, फिर भी वे अंगिरस ही कहलाए। ये रथीतर वंशियों के प्रवर अर्थात कुल में सर्वश्रेष्ठ पुरूष कहलाएं क्योंकि ये क्षत्रोपेत ब्राह्मण थे, क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों ही गोत्रों से इनका सम्बन्ध था।[40] स्पष्ट है कि क्षेत्रोपेत की यह व्याख्या सही स्थिति की परिचायक नहीं हैं क्योंकि प्राच्य परम्पा को जाने बिना ही, 'क्षेत्रोपेतद्विज'' को व्याख्यापित कर दिया गया है। भागवत् की ही परपम्रा का अनुपालन करते

हुए, विष्णुपुराण के भाष्यकर श्रीधर प्रतीत होते हैं, उन्होने रथीतर की पत्नी से ऋषि अंगिरा द्वारा उत्पन्न संतानों को ''अंगिरस'' ही बताते हुए इन्हे ''क्षत्रोपेत-द्विज'' वर्णित किया है।[41] श्रीधर की यह व्याख्या न तो विष्णुपुराण और न तो वैदिक परम्परा के अनुकूल है। इस म्बन्ध में विल्सन वायु पुराण[42] का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते है। जहां पर जन्म से क्षत्रिय व्यवसाय से ब्राह्मण हो गये और इस प्रकार के व्यक्तियों को अंगिरस कहा जाता था जो अंगीरस के अनुयायी अथवा वंशज थे। संभवतः इन लोगों ने योद्धा पुरोधा (ँततपवत.च्तपमेजे) की परम्परा का सूत्रपात किया था। नाभाग ने अंगीरसों को अपने पिता की आज्ञानुसार उनके यक्ष को सम्पादित कराने में सहायता की थी। ऐतरेय ब्राह्मण के इस आख्यान को भागवत में बढ़ाकर प्रस्तुत किया गया।[43]

अंगीरस प्राचीन हिन्द-ईरानी काल से जुड़े थे। वे अपने समय के प्रतिष्ठित पुराहित थे।[44] मैकडालन इन्हे देवताओं से निम्न और मनुष्यों से उच्च, एक विशिष्ट श्रेणी में रखते है। जो अग्नि के परिचायक थे।[45] अग्नि को प्रायः अंगीरस और इन्द्र को अंगीरसों का स्वामी[46] कहा गया है। वे आदित्यों, वुओं, मरूतों, तथा रूद्रों से भी संबंधित है।[47] यहीं नहीं उन्हे मरूतों से भी संबंधित किया गया है।[48] अंगीरसों के इस समस्त विश्लेषणों में सबसे महत्वपूर्ण, उनका पितृगण (थ्ंजीमत) ''हमारे पिताओं'' (व्नत ।दबपमदज थ्ंजीमते) के रूप में उल्लेख है,[49] जिन्होने लकड़ियों में छिपी हुई

अग्नि को खोजकर, यज्ञो का विधान किया था।[50] संभवतः बाद के पुराणकारों ने संहिता में उनकी प्रतिष्ठापना पिता के रूप में होने के कारण तथा रथीतर के अंगिरसों से जुडे रहने के कारण, क्षत्रोपेत द्विजों की उत्पत्ति रथीतर की पत्नी अंगिरसों के द्वारा, विवृत कर दी।

हरिवशं में, भार्गव में अंगिरस के पुत्रों को तीन जातियों में जन्म लेते हुए कहा गया है।[51] एक अन्य स्थल पर भार्गव वंश अंगिरस के पुत्रों को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णित किया है।[52] गृत्सद के भी पुत्रों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बताया गया है।[53] दिवोदास नामक क्षत्रिय राजा के पुत्र मित्रयु तथा मित्रयु की संतान को क्षत्रोपेत भृगुवंशी कहा गया है[54] यहां पर उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में अंगिरसों तथा भृगुओं का उल्लेख साथ-साथ किया गया है।[55] यहीं नहीं भृगु तथा अंगिरस वैवाहिक संबंधों से जुड़े हुए थे।[56]

विष्णुपुराण में ही नृप हस्ती के वंश में अजपीठ, द्विजमीठ और पुरू पीठ का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें से अजमीठ के कण्व और कण्व का मेधातिथि नामक पुत्र हुआ जिससे कि काण्वायन नामक ब्राह्मण उत्पन्न हुए।[57] हरिवंश में भी मेघातिथि के पुत्रों को काण्वायन द्विज कहा गया है। श्रीमती वीणा पाणि पाण्डे इन्हें क्षत्रिय राजाओं की प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न ब्राह्मण सन्तानों की संज्ञा प्रदान करती है।[58] श्रीमती पाण्डेय की अवधारणा उचित नहीं प्रतीत होती, कण्वो का भी वर्णन पुरातन वैदिक परम्परा के अनुसार ही हुआ

है, इस तथ्य की पुष्टि हरिवंश के उद्धरणों से ही जो जाती है। क्षत्रियों कें वंश का वर्णन करते समय, कुछ राजाओं की धर्मनिष्ठा तथा दैहिक सुखों के प्रति विरक्ति के कारण इन्हें राजर्षि तथा कुछ स्थलों पर ब्रह्मर्षि कहा गया है।[59] क्षत्रियों का ब्रम्हर्षि के रूपमं उल्लेख इसी बात को प्रमाणित करता है कि कुछ क्षत्रियों ने अपने चरित्र का विकास कर ब्रह्मणत्व प्राप्त कर लिया था न कि क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप ''क्षत्रोपेत द्विजों'' की उत्पत्ति हुई। नहुष के छः पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र यति मोक्ष मं चित्तवृत्ति स्थिर करके ब्राह्मणमय हो गया।[60] इसी प्रकार मतिनार नामक राजा के तीन पुत्रों तंसु, प्रतिरथ और सुबाहु आदि का वर्णन वेदविद ओर ब्रह्मश्य के रूप में किया गया है।

''क्षत्रोपेत द्विजों'' की परम्परा बलि के पुत्रों के वर्णन के संदर्भ में और भी स्पष्ट हो जाती है। बलि को महान योगी के रूप में वर्णित किया गया है,[61] जिनके पांच अंग, बंग, सुह्म, पुण्ड्र तथा कलिंग नामक पुत्र उत्पन्न हुए, ये समस्त, ''वालेय क्षत्रिय'' नाम से प्रसिद्ध हुए।[62] बलि के कुल में वालेय ब्राह्मण भी हुए जो इस भूतल पर उनकी वंश की वृद्धि करने वाले थे।[63] पुराणों में ऋषि दीर्घतमा द्वारा बालि की पत्नी रानी सुदेष्णा के गर्भ से ये पुत्र उत्पन्न हुए थे।[64]

विष्णुपुराण के भाष्यकर श्रीधर ने भी परम्परा का निर्वहन करते हुए, बलि पुत्रों को दीर्घतमा द्वारा उत्पन्न वर्णित किया है और इसे प्रतिलोम

विवाह कें अंतर्गत रहते हुए, उत्पन्न संन्तानों को सूत की श्रेणी में रखा है। चूंकि ये बलि की भार्या के क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे, अतः ये वालेय कहलाए।[65] दीर्घतमा का उल्लेख मत्स्य पुराण में गो-धर्म के अनुयायी के रूप में किया गया है।[66] वायु पुराण में बलि को ''चातुर्व्यर्व्यकरान्'' कहा गया है तथा मत्स्य में इन्हे चार वर्षों की स्थापना करने वाला कहा गया है।[67] हरिवंश में भी बलि को धर्मज्ञ बताते हुए, भूतल पर चारो वर्णों को नियंत्रण में रखकर, उन्हे मर्यादा के भीतर स्थापित करने वाला बाल विवृत किया गया है।[68]

गुप्तोत्तर काल से ही कुछ ब्राह्मण राजकुलों के बारे मे पता चलना आरम्भ हाता है, जो क्रमशः क्षत्रियत्व की ओर बढ़ रहे थे। वाकाटक जो कि विष्णु वृद्धि[69] गोत्र का ब्राह्मण राजवंश था तथा कदम्ब कुल जो हरित गोत्र था।[70] दोनों को प्राचीन अंगिरस, परिवार से सबंधित थे।[71] चालुक्यों की कुछ शाखाओं ने भी अपने आपको हारीत से जोड़ा था।[72] तथा कुछ राजाओं ने अपने आपको अंगिरस परिवार की भारद्वाज शाखा से।[73] इसी प्रकार चाह्मान और दधीच क्रमशः भार्गव और सारस्वत गोत्रों से संबंधित थे।[74] अंगिरस और भारद्वाज दोनों ही वैदिक कालीन ब्राह्मणों के गोत्र थे। इन राजाओं ने आरम्भ में अपने ब्राह्मणत्व को बनाये रखा जैसा कि उनके अभिलेखों और नामों से स्पष्ट है, जैसे कदम्ब कुल आरम्भ में राजाओं के नामों के साथ ''शर्मा'' जुड़ा हुआ था जो ब्राह्मणत्व का परिचाक है परन्तु बाद में राजाओं ने अपने

नाम के साथ क्षत्रिपाल का बोधक ''वर्मा'' शब्द लगाना आरम्भ कर दिया। कदम्ब कुल आरम्भ में ब्राह्मण था जो बाद मे क्षत्रिय हो गया।

इसी सम्बन्ध में प्रतिहारों का उल्लेख किया जा सकता है, ब्राह्मण गोत्रधारी[75] गुर्जर ब्राह्मणों का उल्लेख पांचवी, छठवीं शताब्दी से मिलना प्रारम्भ हो जाता है जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण अथवा मैथिली ब्राह्मण जैसे स्थान विशेष के कारण अपने भौगोलिक नाम से अभिहित प्रतीत होते हैं।[76] मंदौर के प्रतिहार अभिलेख (837ई) में इस वंश का संस्थापक हरिश्चन्द्र ब्राह्मण बताया गया है।[77] चुत्सु के गुहिलों (10 वीं शताब्दी का मध्य)[78] को भी ब्रह्म क्षत्रान्वितों की श्रेणी में रखा गया है। मेवाड़ के गुहिलो (661 ई0) के वंश संस्थापक को ''आनन्दपुर विनिर्गतविप्रकुलानंद'' महादेव'' कहा गया है जिसका निहितार्थ है कि इस वंश की उत्पत्ति आनन्दपुर के ब्राह्मण परिवार से हुई।[79] बाद के अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि इन्होनें भी अपने आपको 'ब्रह्म क्षत्रों'' से जोड़ लिया[80] तथा अपनी उत्पत्ति सूर्य से बताते हुए अपने को सूर्य वंश से जोड़ लिया।[81] चाहमानों में शकभरी के चाह्मनों की उत्पत्ति वत्सगोत्रीय ब्राह्मणों से मानी गयी है।[82] जिन्होने बाद में अपनी उत्पत्ति सूर्य से बताते हुए अपना संबंध कृत युग के इच्छवाकुओं से स्थापित कर लिया था।[83] आबू के चाह्ममानो की उत्पत्ति धार्मात्मा ऋषि वच्छ से बतायी गयी है, जिन्होनें सूर्य एवं चन्द्र वंशों के समाप्त हो जाने पर योद्धावों की ब्राह्मणों की नई जाति के रूप में चाहमानों का सृजन किया।[84] धारा के

परमारों को ''पिंगलसूत्रवृत्ति'' में ब्रह्मक्षत्रकुलीन कहा गया है।[85] परमार मूलतः वशिष्ठ ब्राह्मण थे जो बाद में वशिष्ठ गोत्रीय क्षत्रियो में परिवर्तित हो गये[86] ब्रह्मक्षत्रियों की परम्परा में बंगाल के सेन भी आते थे जिनके वंशज कर्णाट ब्राह्मण थे और जो वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञ कर्मों से अपनी जीविका चलाते थे,[87] जिन्होने बाद में क्षत्रिय की स्थिति को स्वीकार किया। किन्तु अवान्तकालीन स्तर पर वे अपने को क्षत्रिय कहने लगे।[88] मध्यकाल के राजपूतों की उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रतिषपनार्थ ''अग्नि कुल'' के सिद्धान्त का आश्रय लिया जाता है जिसका प्रतिपादन ''पृथ्वी राजरासों'' के कुछ संस्करणों में प्राप्त होता है। यहां पर उल्लेखनीय है कि प्रतिहार, चाहमान आदि वंशों का अग्नि शुद्ध का सिद्धान्त, पृथ्वीराजरासों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में नहीं प्राप्त होता है।[89] यहां पर यह उल्लेखनीय है कि वाकाटक, कदम्ब, चालुक्य तथा चामानादि राजवंश अंगिरस तथा भारजद्वाज गोत्रों से संबंधित थे।[90] ऋग्वेद में अंगिरसों को अग्नि का परिचारक[91] तथा अग्नि को अंगिरस कहा गया है[92] ऐसा प्रतीत होता है कि अंगिरसों के प्राचीन वैदिक कालीन सिद्धान्त को मध्यकाल में एक नये रूपक द्वारा जोड़ दिया गया। वीरों की उत्पत्ति संबंधी मिथक सारे भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से विखरे हुए प्राप्त होते है जो समय-समय पर ब्राह्मण वैधानिकों द्वारा सामाजिक प्रमाणीकरण और व्यवस्थाकरण संबंधी प्रयत्नों के द्योतक है।[93]

सात वाहनों के काल से एक नयी आर्थिक व्यवस्था का सूत्रपात होता है जिसमें सामाजिक व्यवस्था, मुख्यतः वर्ण व्यवस्था को प्रकारान्तर से प्रभावित किया। यह व्यवस्था 'भू-दान' की व्यवस्था थी जो अग्रहार के नाम से जानी जाती थी। अग्रहार मूलतः ब्राह्मणों को दान में दिये जाने वाले ग्राम थे जो कर मुक्त होते थे। ग्रामवासियों को भाग, भोग, कर तथा हिरण्य आदि को दाग्रहीता को देने का आदेश दिया गया था, परन्तु चोरों आदि को दण्ड देने का अधिकार, ग्रहीता को दानकर्ता की ओर से आरम्भ से नहीं दिया गया था।[94] भू-दान की स्थिति में परिर्वतन सात वाहनों के काल से परिलक्षित होता है। जब दान ग्रहीताओं को दी गयी भूमि अथवा ग्राम मं राजा की सेना प्रवेश नहीं कर सकती थी सरकारी अधिकारी उत्पीड़न नहीं कर सकते थे और जिला पुलिस हस्तक्षेप नही कर सकती थी,[95] यद्यपि ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी भू-दान दिया जाता था[96] परन्तु धार्मिक भू-दानों की संख्या कही अधिक थी।

स्मृतिकारों ने भी अग्रहार दान के व्यावहारिक पक्ष को परोक्ष रूप से अपना समर्थन प्रदान किया। मनु ने व्यवस्थित किया है कि यदि ब्राह्मण अपने कर्म से जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है तो यह क्षत्रिय कर्म अपना सकता है[97]। मनु के उपर्युक्त श्लोक पर भाष्कारों के द्वारा किया गया भाष्य महत्वपूर्ण है। मेघातिथ जहां वृत्ति परिवर्तन को ''पापकारी'' मानते हैं,[98] वहीं भारूचि इसे 'प्रत्यवारमीयन् मानते हैं।[99] स्पष्ट रूप से भारूचि इसे मेघातिथ

के समान उतना बुरा नहीं मानते, इसके विपरीत वृत्ति परिवर्तन से व्यक्ति के उत्थान से राजस्व कम करने की बात करते हैं। कालान्तर में संभवतः अपने अनुभव के कारण दानग्रहीताओं ने क्रमशः सामन्त का स्तर अथवा पद प्राप्त कर लिया होगा। ब्रह्म क्षत्रों की प्रारम्भिक स्थिति ''सामंती'' अथवा ''महासांमती'' की थी।

संस्कारः

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के सम पूर्वक ''कृ'' धातु से ''ध'' प्रत्यय करके किया गया है, जिसका सामान्य अर्थ होता है शुद्धि, परिष्कार, अथवा स्वच्छता। कभी-कभी संस्कार का तात्पर्य अंग्रेजी के शब्द में ''सैक्रमेन्ट'' की भांति उन विधि विधानो तथ कृत्यों से है, जो आंतरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य के बाह्य तता दृश्य प्रतीक माने जाते हैं।[100] संस्कारों का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के शरीर मे शुद्धि करना था। व्यक्ति के शरीर के सम्बन्ध सामाजिक मान्यता यही थी कि वह रक्त और वीर्य से निर्मित है, इस तरह से यह शरीर अपवित्र है। अतः किसी भी धार्मिक क्रिया के सम्पादन से पूर्व, अशुद्ध शरीर की शुद्धि आवश्यक थी।[101] स्मृतियों में ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की गयी है कि संस्कारों से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वीर्य और गर्भ के दोष से मुक्त हो जाते हैं।[102] संस्कारों की मूल महता इस दृष्टि से मान्य थी क्योंकि उसके द्वारा शुद्धि सन्निधानार्थ का सुवसर मिलता था। इसमे संदेह नहीं है कि शुचिता सन्निवेश एवं धमार्थ समाचरण के कारण

संस्कार लोकप्रिय थे।[103] संस्कारों के विषय में कुमारिल (आठवीं शती ई0) ने तंत्रवार्तिक, एक वैज्ञानिक परिभाषा देने का प्रयास किया है। उनके अनुसार संस्कार दो प्रकार से मनुष्य को योग्य बनाता है, पूर्व कर्मों के दोषों को दूर करके और नये गुणों के उत्पादन से।[104] संस्कारों के द्वारा व्यक्ति अपनी सहत प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास करके अपना और समाज दोनो का कल्याण करता था।[105]

पुराणों में संस्कारों का वर्णन क्रम के अनुसार इस प्रकार से नहीं हुआ है जिस प्रकार से स्मृतियों में प्राप्त होता है। संस्कारों की संख्या के बारे में भी न तो पुराणों में ऐक्य है और न तो आपस में स्मृतियों में। गौतम धर्मसूत्र में संस्कारों की संख्या चालीस वर्णित है।[106] मनु तेरह संस्कारों का वर्णन करते है[107], याज्ञवल्क्य[108] भी केशान्त को छोड़कर, मनु का ही अनुगमन करते हुए प्रतीत होतें हैं। केशान्त वेदों के अध्ययन से जुड़ा हुआ था, संभवतः याज्ञवल्क्य के समय तक वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन का प्रचलन बंद हो गया था, इसी कारण से याज्ञवल्क्य ने इसका उल्लेख नहीं किया है। कालान्तर में रची गयी पद्यतियों में षोडश संस्कारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

गर्भाधानः

विष्णु पुराण में संस्कारों का वर्णन करते हुए, अलग से, गर्भाधान का वर्णन नहीं प्राप्त होता है। इस संस्कार का वर्णन प्रकारान्तर से ऋतु गमन के प्रसंग मे किया गया है। विष्णु पुराण के अनुसार, ऋतु काल के अवसर पर युग्म रात्रि में ही पत्नी का संग अपेक्षित है। इस विषय मे कतिपय आवश्यक और अनुसरणीय नियमों का प्रतिपादन किया गया है। शारीरिक एवं मानसिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही पत्नी के साथ सहवास की अनुमति दी गयी थी। अप्रसन्न, अस्वस्थ, राजेविशिष्ट, भयत्रस्त, गर्भिणी, अनुदार, अकामिनी, विषयान्तर-अभिलाषी, क्षुधाग्रस्त अथवा अति मुक्त आदि ऐसी अवस्थाएं थी, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। उपर्युक्त वर्णित अवस्था में सहवास निषिद्ध था। स्नान , अलंकार, अनुलेप तथा मानसिक आह्लाद पति के लिए आवश्यक थे। प्रातः एवं सायं काल, सौचावेग, तथा पर्व के अवसर पर, गृहस्थ से अपेक्षा की जाती थी कि वह संसर्ग न करें। यह मर्यादा इतनी सुदृढ़ थी कि युगल की अनिच्छित स्थिति में उपगम आज्ञप्त नहीं था।[109]

विष्णु पुराण में स्पष्ट रूप से गर्भाधान का नाम नहीं लिया गया है। वस्तुतः विष्णुपुराण में वर्णित स्मृतियों से निहित गर्भाधान संस्कार से सभ्यता के आधार, कहा जा सकता है। विष्णु पुराण में प्राप्त वर्णन गर्भाधान संस्कार की ओर ही संकेत करते हैं।

पुसवनः

पत्नी के गर्भवती होने के तीसरे महीने, यह संस्कार किया जाता था। इसक उद्देश्य देवताओं को प्रसन्न करना था जिनकी कृपा से पुत्र का जन्म हो और पुत्री का जन्म न हो। विष्णु पुराण में वर्णित है कि कश्यप ने दिति का संग, पराक्रमी पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से किया था। इस उद्देश्य के पूर्णार्थ उन्होने दिति को शुचिता-सम्मित जीवन यापन का आदेश दिया था।[110] स्मृतियों में भी इस संस्कार से सम्बन्धित क्रियाकलापों का विशद विवरण प्राप्त नहीं होता। मत्स्य पुराण में दिति द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिए, कुछ निषिद्ध क्रियाओं के लिए किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है जैसे सांध्य वेला में भोजन, वृक्ष मूल, मूसल, उलूखल, वल्मीक, को आसनार्थ प्रस्तुत करना।, मानसिक उद्वेग, पृथ्वी पर चिन्ह बनाना, कलह करना, अंगड़ाई लेना, मुक्त केश रहना तथा अपवित्र रहना। इसके साथ-साथ अपेक्षित एवं आचरणीय क्रियाएं वक्ष्यणाम थीं गुरूजनों की सेवा, मांगलिक कार्यो में तत्पर रहना, सुन्दर वस्त्रादि धारण करना, वास्तु पूजा संपन्न करना, प्रसन्न चित्त रहना, पति के प्रियकर एवं हितकर कार्यो में अनुराग प्रदर्शन आदि।[111]

शांखायन गृह्य सूत्र के अनुसार इस संस्कार का सम्पादन तिष्य नक्षत्र अथवा श्रावण मास मे करना चाहिए।[112] वाजससनेयि संहिता के अनुसार इस समय हिरण्य गर्भ मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। मध्यकालीन ग्रन्थ मानसोल्लास में घी और जौ की खिचड़ी खाने का प्राविधान प्राप्त होता है।[113]

वैदिक कार्यों को पुत्रप्राप्ति की उत्कृष्ट अभिलाषा रहती थी। एक तो पितृसत्तात्मक व्यवस्था और दूसरे निरन्तर युद्धों में संलग्न रहने के कारण, पुत्र की कामना की जाती रही होगी। पौराणिक काल में स्मृति के विधि विधान, श्राद्ध आदि में पुत्रों को महत्व प्रदान किये जाने के कारण, पुत्र प्राप्त करने की इच्छा बनी रही। पौराणिक काल में पुत्र द्वारा माता-पिता को 'पुन' नाम नरक से[114] बचाने वाले के रूप में विवृत करने के कारण, पुत्र का महत्व और भी बढ़ गया है। पुराणों में कहा जा सकता क्योंकि पुराणों में "पुसवन" शब्द नहीं प्राप्त होता है। फिर भी संभावना व्यक्त की जा सकती है कि दोनो का ही उद्देश्य पुत्र की प्राप्ति था, अतः यह पुंसवन संस्कार से ही सम्बन्धित रहा होगा।

सीमन्तोन्नयनः

पत्नी के बालों को (सीमन्त) को ऊपर उठाने के कारण (उन्नयन) के कारण ही इस संस्कार को सीमन्तोन्नयन की संज्ञा प्रदान की गयी थी। गृहसूत्रों में इस संस्कार को पत्नी के गर्भवती होने के चौथे, छठवें या आठवें माह करने का विवरण प्राप्त होता है।[115] पुराणों तथा गृहसूत्रों के विवरण जो सीमन्तोन्नयन से संबंधित है उनमें अन्तर प्राप्त होता है। गृहसूत्रों के वर्णन के अनुसार पत्नी वैल की खाल पर बैठकर होम करती थी। पति साही के कांटे से तथा कुशा से तीन बार पत्नी की मांग को निकालता था, उसका माला पहनाता था और उसे चावल और मूंग के दाल की खिचड़ी घी

डालकर, खिलाता था[116] विष्णुपुराण में सीमन्तोन्नयन का उल्लेख अलग से न कर गृहस्थ के कर्तव्यों के अन्तर्गत वर्णित किया गया है। विष्णुपुराण के अनुसार गृहस्थ को सीमन्तोन्नयन के अवसर पर प्रयत्नशील होकर नान्दीमुख नाम पितरों की अर्चना करनी चाहिए थी नान्दीमुख में पितामह के पूर्ववर्ती तीन पितरों को सम्मिलित माना जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र में, विष्णुपुराण की भांति ही सीमन्तोन्नयन के अवसर पर नान्दीमुख पितरों को अर्जित करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[117]

जातकर्मः

जातकर्म प्रथम ऐसा संस्कार था जो बालक के उत्पन्न होने के उपरान्त सम्पन्न किया जाता था। इस अवसर पर पिता आशीः मंत्रो के उच्चारण के साथ पुत्र का स्पर्श करता था तथा उसके सिर को सूंघता था। इसके अतिरिक्त पिता स्वर्ण की शजाका से पुत्र को धृत और शहद चटाता था।[118] माता सर्वप्रथम पुत्र को अपने स्तनों से पहली बार दूध पिलाती थी।[119] विष्णुपुराण में इस संस्कार का वर्णन एक विशिष्ट संस्कार के रूप मे किया गया है। पुत्र जन्म के अवसर पर, जातकर्म[120] के संपादनार्थ पिता के द्वारा सवस्त्र स्नान करना तथा नान्दीमुख पितृगण के प्रीणनार्थ आभ्युदियक श्राद्ध का पुनरुल्लेख किया है।[121]

नामकरणः

यह सस्कार बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन किया जाता था।[122] आश्वलायनगृहसूत्र के अनुसार बालक के नाम में सम संख्या के पर होने चाहिए।[123] विष्णुपुराण में भी नामकरण के लिए दसवें दिन का विधान प्रस्तुत किया गया है। बालक के नाम संवोधनार्थ के लिए देवता वाची शब्दों को उचित माना गया है। नामोपरांत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए क्रमशः वर्मा, गुप्त एवं दास आदि शब्दों का प्रयोग करने के लिए कहा गया है। बालक के नाम के लिए अर्थहीन, अप्रशस्त, अपशब्द सूचक, अमंगल बोधक, घृणा व्यन्जक तथा विषमाक्षर युक्त नामों का प्रयोग वर्जित है। इसी प्रकार नामार्थक शब्दों में अतिदीर्घत्व, अतिहस्तत्व तथा अति गुरुत्व का अपहार अपेक्षित उद्घोषित करते हुए उच्चारण करते हुए उच्चारण गुसम नामों पर बल दिया गया है।[124] मनु के अनुसार ब्राह्मण का नाम मंगल सूचक, क्षत्रिय का बल–सूचक, वैश्य का धन सूचक और शूद्र का जुगुप्सा सूचक शब्दों से युक्त होना चाहिए।[125] वस्तुतः विष्णुपुराण नामकरण, के संदर्भ में सूत्रों की परम्परा का अनुगमन करता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि पारस्कर गृह सूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के नामों के साथ क्रमशः शर्म, वर्म और उक्त शब्दों के संयुक्त करने को कहा गया है।[126] बौधायन गृहशेप सूत्र में शूद्रों के नामों के अंत में "दास" शब्द को जोड़ने के लिए कहा गया है।[127]

चूड़ाकर्मः

इस संस्कार में बालक के सिर के बालों का वपन होता था।[128] विष्णुपुराण में इस संस्कार के अवसर पर भी नान्दी मुख पितरों की अर्चना का विधान प्रस्तुत किया गया है। मत्स्य पुराण में इसका उल्लेख अशौच अवधि के वर्णन क्रम में हुआ है। चूड़ाकर्म के उपरान्त तीन रात्रि तक एतत्पूर्व के रात्रि तक बालक का अशौच होता था।[129] इसके अतिरिक्त इस संस्कार से संबंधित पुराणों में कोई विशेष सामग्री नहीं प्राप्त होती है। कौटिल्य शौच कर्म के उपरान्त बालक को अक्षर लिखना और गिनती सीखने का विधान करतें है[130], तथा उपनयन के उपरान्त वेद, आनवेक्षकी, वार्ता और दण्ड नीति की शिक्षा का। इस संस्कार का संबंध शारीरिक स्वच्छता से प्रतीत होता है क्योंकि तीन वर्ष के बालक का छोर कार्य शारीरिक दृष्टि से भी आवश्यक हो जाता है।

उपनयनः

यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार था। इस संस्कार के उपरान्त बालक के जीवन की दिशा निर्धारित होती थी। इस संस्कार के उपरांत ही बालक का दूसरा जन्म हुआ, माना जाता था और समाज में उसे द्विज के नाम से अभिहित किया जाता था।[131] एक अन्य स्थल पर मनु आर्य का तीन बार जन्म हुआ मानते हैं, पहली बार माता के गर्भ से, दूसरी बार यज्ञोपवीत

संस्कार से और तीसरी बार श्रोता यज्ञ करने से[132] बालक के तीन जन्मों का सिद्धान्त मनु का अपना मौलिक सिद्धान्त प्रतीत होता है क्योंकि अन्यत्र कहीं भी तीन जन्मों की चर्चा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। वशिष्ठ स्मृति में[133] तथा विष्णु स्मृति में बालक के दो जन्मों का उल्लेख प्राप्त होता है। बालक को दूसरा 'जन्म' और द्विजता प्रदान करने वाला संस्कार अति महत्वपूर्ण था। यह संस्कार इस बात का प्रमाण था कि बालक का अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन समाप्त होकर नियमित और गंभीर अनुशासित जीवन का प्रारम्भ हुआ।[134]

विष्णुपुराण के अनुसार उपनयन संस्कार से संस्कृत होकर गुरू के गृह में विद्या लाभ करना चाहिए।[135] सगर के विषय में वर्णित है कि उपनयन संस्कार के उपरान्त और्व ऋषि ने उन्हें वेद शास्त्र का अध्ययन कराया था।[136] जड़ भारत ने भी उपनयन के उपरांन्त, गुरू से शिक्षा प्राप्त की थी।[137] कृष्ण एवं बलराम के सबंध में विवृत है कि गुरू एवं शिष्य के परम्परा के निर्वाह के प्रदर्शनार्थ उन्होने, सर्वज्ञान सम्पन्न होने पर भी, उपनयन से संस्कृत होकर सान्दीपनि मुनि के यहां शिक्षा ग्रहण की।[138] मनुस्मृति में भी वर्णित है कि बिना यज्ञोपवीत सस्कार के मनुष्य वेद मंत्र, उच्चरित करने का अधिकारी नहीं है।[139]

अन्य संस्कारों की भांति ही विष्णु पुराण में उपनयन के कर्मकाण्ड पक्ष का वर्णन, नहीं प्राप्त होता है। सूत्रों ने इस संस्कार के लिए ब्राह्मण बालक

के लिए आठ वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए ग्यारह वर्ष और वैश्य बालक के लिए बारह-वर्ष आयु निर्धारित की गयी है।[140] इस सम्बन्ध में मनु आयु की अधिकता सीमा ब्राह्मण बालक के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए बाईस वर्ष और वैश्य बालक के लिए चौबीस वर्ष निर्धारित करते हैं।[141] गृह सूत्रों और स्मृतियों में इस संस्कार का सांगोपांग विवरण प्राप्त होता है। इस संस्कार में ब्राह्मण बालक गूंज की, क्षत्रिय धनुष की ओर और वैश्य ऊन के धागे का यज्ञोपवीत धारण करता था।[142] इसी प्रकार ब्राह्मण का बालक पलाश या बेल का दण्ड, क्षत्रिय बरगद का और वैश्य गूलर का दण्ड धारण करता था।[143] आचार विद्यार्थी को सूर्य दर्शन करने के उपरान्त, शिष्य के हृदय का स्पर्श कर उसे सावित्री मंत्र के साथ उपदेश देता था।[144] इसके अनन्तर विद्यार्थी भिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त, आचार्य के साथ गुरुकुल के लिए प्रस्थान कर देता था।

विवाहः

विवाह कई दृष्टियों से आवश्यक एवं महत्वपूर्ण समझा गया था। हिन्दू विवाह का पहला उद्देश्य आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार धर्म पालन है। यह तीन प्रकार से होता है, सब धर्म कार्यो में पत्नी के सहयोग द्वारा गृहस्थ के धर्म पालन से तथा पितृ ऋण को उतारने से।[145] भार्या विहीन व्यक्ति को यक्ष करने का अधिकार प्राप्त नहीं किया गया।[146] पाणिनी के अनुसार पत्नी का अर्थ ही यज्ञ कर्म में सहयोग देने वाली स्त्री है।[147] विवाह का दूसरा

प्रयोजन पुत्र प्राप्त करना था। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से वर वधू से कहाता है कि वह उत्तर संतान के लिए उसका पाणिग्रहण करता है।[148] इसी अवसर पर पुरोहित वर-वधू को बहु पुत्रवान होने का आशीष प्रदान करता है।[149] विष्णुपुराण भी इसी पुत्रोत्पत्ति की भावना से अनुप्रमाणित प्रतीत होता है। विष्णु पुराण मे विहित आदर्श के अनुसार सन्तान विस्तार की इच्छा से विवाह करना अपेक्षित है। इस आदर्श से अनुप्राणित अनेक स्थल विष्णुपुराण में प्राप्त होते हैं। भरिषा का पाणिग्रहण सोमराज ने वंश वृद्धि के उद्देश्य से प्रचेताओं के सथ सम्पन्न करया था।[150] दूसरा उदाहरण असिक्नी का है, जिसके साथ दक्ष ने वंश वृद्धि की इच्छा से विवाह किया था।[151] प्रजापति दक्ष ने सर्ग की वृद्धि के लिए वीणसुता असिक्नी से पांच सहस्त्र पुत्र उत्पन्न किये थे।[152] एक अन्य प्रसंग में प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने वैरुणी से एक सहस्त्र पुत्र उत्पन्न किये थे।[153] एक अन्य प्रसंग में प्रचेताओं क पुत्र दक्ष ने वैरुणी से एक सहस्त्र पुत्र उत्पन्न किये[154] मरीचि नन्दन कश्यप ने वैशानर की पुत्रियों पुलोमा और कालका से साठ हजार पुत्र उत्पन्न किये।[155] रैवत के सौ भाइयों का उल्लेख विष्णुपुराण में प्राप्त होता है।[156] कालान्तर में उन राजकुमारियों के द्वारा सौरभि मुनि ने डेढ़ सौ पुत्र उत्पन्न किये।[157] रजि द्वारा पांच सौ पुत्रों को उत्पन्न करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[158]

विवाह का तीसरा उद्देश्य समाज के प्रति कर्तव्य और दायित्वों का पालन प्रतीत होता है। पितृ ऋण के माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक

दायित्वों की परिधि से आवृत्त रखा गया था। इस ऋण को उतारना ऐच्छिक नहीं अपितु अनिवार्य था।[159] इस सिद्धान्त के पीछे संभवतः यही अवधारणा कार्य कर रही थी कि व्यक्ति ने जो समाज से ग्रहण किया है, उसे वह आगे आने वाली पीढ़ी के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझ कर, समाज को समर्पित कर दे। मनु के अनुसार व्यक्ति तीनों ऋणों को उतार कर ही मोक्ष में मन लगाए, यदि वह ऋणों को उतारे बिना मोक्ष की आराधना करता है तो नरकगामी होता है।[160] इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आगे मनु कहते हैं कि विधिपूर्वक वेद का अध्ययन कर, धर्म पूर्वक पुत्रों को उत्पन्न कर और यथा सामर्थ्य यज्ञ करके वह सन्यास आश्रम में अपने मन को नियोजित करें।[161] पितृ ऋण को इतना महत्व देने के पीछे यही विचारधारा क्रियाशील थी कि व्यक्ति को जो कुछ भी दाय समा जके प्रति था उसका वह प्रतिफल समाज को अवश्य ही प्रदान करें।

प्राचीन भारत में विवाह को एक मूलभूत सामाजिक संस्था के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।[162] जो समाज में सभ्यता और संस्कृति के विंस्तार से सहायक होता है। यह सर्वोच्च सामाजिक संस्था अपने स्वरूप में क्या थी, दो व्यक्तियों के मध्य ''संविदा'' अथवा ''धार्मिक संस्कार''। वेटरमार्क ने इस संस्था को परिभाषित करते हुए कहा है कि विवाह एक ऐसा संबंध (Association) जो न्यायशास्त्र द्वारा मर्यादित है, जिसके द्वारा विभिन्न लिंगों के व्यक्ति, घर बसाने क लिए अथवा सहवास करने के लिए

सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[163] अय्यर के अनुसार विवाह एक कायिक अध्यात्मिक (चीलेपै.चतपतपजनंस) संबंध की तथा पुरूष के मध्य हैं, जो सुरक्षा के निमित्त है। वर्तमान में विवाह प्रजाति उत्पत्ति और दो व्यक्तियों के संयोग का कारण है।[164] प्राचीन वैवाहिक स्वरूप को पाश्चात्य तथा आधुनिक परिभाषाओं के आलोक मे समझा नहीं जा सकता है। हिन्दू विवाह न तो विपरीत लिंगों के व्यक्तियों के मध्य न तो संविदा (ब्वदजतंबज) पर और न तो नस्ल वृद्धि के लिए किया गया सम्बन्ध, यह इन दोनों से परे, एक अध्यात्मिक संस्कार था जो समाज, व्यक्ति तथा धर्म तीनों के लिए आवश्यक था। विश्व में किसी अन्य के द्वारा, विवाह को उतना महत्व नहीं प्रदान किया, जितना कि हिन्दुओं द्वारा। यहां पर धर्म और न्याय शास्त्र मिल कर अपने पक्ष में उचित वातावरण का सृजन करते हैं।[165] प्राचीन हिन्दू विवाह अपने स्वरूप में धार्मिक था और इसे परमात्मा द्वारा सृजित माना गया था जो सम्पूर्ण विश्व का भाग्य विधाता है।[166]

विवाह के पूर्व यह आपेक्षित था कि वहर और वधू के गुणों एवं अवगुणों का सावधानी पूर्वक कर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया जाए। जूनागढ़ के स्कन्दगुप्त के अभिलेख में इस विधि को बड़े ही सुन्दर रूप से प्रस्तुत किया गया है। अभिलेख में स्कन्दगुप्त की इच्छुक लक्ष्मी की उपमा, उस अंगना से दी गयी है जो गुण और दोष की भांति-भांति परीक्षा कर, वर का चयन करती हैं।[167] विष्णुपुराण में कन्याओं के अवगुणों की सूची तो प्राप्त

होती है, परन्तु वर के गुणों एवं अवगुणों की सूची नहीं प्राप्त होती है। अन्य समकालीन स्मृतियों में वर के गुणों तथा अवगुणों की जो सूची प्राप्त होती है उसी के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वर के चयनार्थ कौन से गुण अपेक्षित थे। ब्रह्मचर्य, वर का प्रथम आवश्यक गुण था। बौधायन[168] कन्या के पिता को स्पष्ट रूप से सलाह देते है कि वह उस पति को कन्या दान दें, जिसका ब्रह्मचर्य व्रत भंग न हुआ हो। मनु[169] तथा याज्ञवल्क्य[170] ने अखण्ड ब्रह्मचर्य के नियमों का वर्णन किया है। वर का दूसरा गुण उत्तम कुल में जन्म लेना वर्णित किया है। आपस्तम्ब गृह सूत्र[171] में एक विशेष पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार वर-वधू के कुल की परीक्षा का विधान किया गया है। याज्ञवल्क्य[172] ने भी महाकुल या श्रेष्ठ कुल पर बल दिया है। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन ने यशोवती से कहा है कि वर में अन्य गुण रहते हुए बुद्धिमान व्यक्ति कुल को ही देखते है।[173] कुल का विचार करके ही उसने ''सकल भुवननमस्कृत्य'' मौखरी वंश के ग्रहवर्मा को अपनी कन्या देने का विचार किया।

मनु ने भी विवाह योग्य कन्याओं के अनेक अवगुणों की चर्चा की है। उनके अनुसार कन्या का कुल कितना ही बड़ा क्यों न हो, निम्नलिखित दस[174] कुलों में वैवाहिक सम्बन्ध कदापि न स्थपित करें- जिस कुल में शास्त्रोक कर्म नहीं होते, पुत्र उत्पन्न नहीं होते, वेद नहीं पढ़ा जाता था, स्त्री पुरुष बहुत रोम वाले होते है, जिसमें बवासीर, छई, मन्दाग्नि, मृगी श्वेता

या गलित कुष्ठ होता है[175] इसके अतिरिक्त बड़े वालों वाली, अधिक अंगो वाली, रोगिणी, बिना रोम वाली, अति रोम वाली तथा लाल नेत्रों वाली कन्या से विवाह न करें।[176] इसके अतिरिक्त मनु सलाह देते हैं कि जिसके भाई न हो ओर जिसके कुल (पिता) का ज्ञान न हों क्योंकि भाई के न होने से पिता पुत्री के साथ प्रथम पुत्र की गोद ले सकता है और पिता के बारे में ज्ञान न होने से, कन्या पातकी हो सकती है।[177] वात्स्यायन[178] विवाह योग्य कन्या के सोलह दोषों की चर्चा करते हैं, बुरे नाम वाली कन्या, ऐसी कन्या जो छिपाकर रखी गयी हो, वाग्दता, भूरी या कपिता (यह पति को मारने वाली समझी जाती थी) पृषता अर्थात सफेद दागों वाली यह धन को नुकसान कराने वाली होती है, वृषभा अर्थात् मर्दानी औरतें, झुके कन्धों वाली, असंगत जांघो वाली, बड़े माथे वाली, मृत पिता की क्रिया करने के कारण अशुद्ध, किसी दूसरे पुरूष द्वारा दूषित अर्थात नाजायज संतानवाली, जरस्वला, गर्भवती, मित्र, जिसकी छोटी बहन हो, वर्षकरी अर्थात जिसके हाथ पैरों दोनों से ही पसीना निकलता हो। वर एवं वर के पिता से अपेक्षा की जाती थी कि ऐसे लक्षणों वाली कन्याओं को परिव्यज्, जिसके अंगों में किसी प्रकार का दोष न हो, जिसका नाम प्रशस्त हो तथा ज़िसकी चाल में हंस और हाथी की मस्ती हो।[179] उसी से विवाह करें।

विवाह योग्य अवस्थाः

वर एवं वधू के विवाह के समय क्या अवस्था हो, पौराणिक काल में यह विमर्श का विषय प्रतीत होता है। विष्णुपुराण में वर्णित है कि वर और वधू की अवस्था में एक और तीन का अनुपात होना चाहिए।[180] इस आधार पर 10 वर्ष कन्या का विवाह तीस वर्षीय युवक से अथवा पन्द्रह वर्षीया कन्या का विवाह पैतालिस वर्षीय पुरुष से होना चाहिए। अन्यत्र इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि गोरी कन्या से विवाह करने से पितरों को प्रशंसा होती है।[181] वायु और ब्रह्मण्ड पुराणों में वर्णित है कि गोरी कन्या से विवाह करने पर पितरों को प्रसन्नता होती है।[182] शास्त्रों में गोरी कन्या का विवचेन सप्त वर्षीय बालिका के रूप में किया गया है।[183] कहीं-कहीं आठ वर्ष की बालिका को भी गोरी कहा गया है।[184]

विवाह का एक मान्य नियम था कि व्यक्ति अपने ही वर्ण में विवाह करें। सवर्ण विवाह को समान दृंष्टि से देखा जाता है। विष्णुपुराण के अनुसार नृप सगर की केशिनी नामक भार्या विदर्भ राजवंश की थी।[185] धर्मशास्त्रों ने भी इसी मान्यता पर बल देते हुए प्रतिष्ठापित किया गया है कि व्यक्ति को सवर्ण विवाह ही करना चाहिए।[186] असवर्ण विवाह निम्न माना जाता था।[187] विष्णुपुराण में स्पष्ट रूप से असगोत्र एवं असप्रवर विवाहों के रूप में स्पष्टतया उल्लेख नहीं प्राप्त होता है परन्तु प्रकारान्तर से विवृत है कि कौशिक गोत्र में उत्पन्न व्यक्तियों का विवाह दूसरे ऋषियों (के गोत्र) के

साथ ही हो सकता है।[188] सगोत्र विवाहों पर प्रतिबन्ध धर्मसूत्रों के काल से आरम्भ हो गया था।[189] स्मार्त परम्परा भी सगोत्र विवाह को उचित हीं वर्णित करती है।[190] इस सम्बन्ध में मत्स्य पुराण का वर्णन अधिक स्पष्ट है। सन्दर्भित पुराण में विभिन्न ऋषियों के गोत्र और प्रवर का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गोत्रों और प्रवरों में परस्पर विवाह नहीं होते।[191] अन्यत्र मस्त्य पुराण में सगोत्रों में विवाह की असंभावना को प्रकट करते हुए, ब्रह्मा के साथ शतरूपा के विवाह पर आश्चर्य और खेद प्रकट किया गया है।[192]

पौराणिक काल में, वैज्ञानिक सम्बन्धों में असपिण्ड विवाह पर भी ध्यान दिया जाता था। विष्णु पुराण में विवेचित है कि गृहस्थ आश्रम में प्रवेशार्थी को चाहिए कि वह ऐसी कन्या से विवाह करे, जिससे वह मातृपक्ष से पांचवी और पितृपक्ष से सातवीं पीढ़ी तक सम्बन्धत न हो।[193] वस्तुतः इस क्षेत्र में भी पुराण स्मार्त परम्परा का अनुपालन कर रहे थे, याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इस प्रकार की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है।[194]

अनुलोम और प्रतिलोम, दो भागों में वैवाहिक सम्बन्धों को विभक्त किया गया था। अनुलोम विवाह की श्रेणी में उच्च वर्ग के व्यक्ति के द्वारा निम्न वर्ण की स्त्री से किया गया विवाह आता था। प्रतिलोम इससे विपरीत अवस्था को कहा गया है, जिसमें निम्न वर्ण का पुरुष उच्च वर्ग की स्त्री के साथ वैवाहिक सम्बन्धों को ''अर्न्तजातीय'' विवाह के रूप में परिगणित किया जा सकता है। परम्परा के अनुसार ब्राह्मण चारों वर्णो में विवाह कर सकता

था, क्षत्रिय अपने से नीचे के वर्णों में अर्थात् तीन वर्णों में, वैश्य, वैश्य और शूद्र वर्णों में, शूद्र केवल अपने ही वर्ण में विवाह कर सकता था।[195] इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध अनुलोम विवाह की श्रेणी में आते थे। विष्णुपुराण में जन्मदग्नि का विवाह इच्वाकुलोद्भव रेणुका का वर्णित विवाह इसी श्रेणी के अंतर्गत आता है।[196] पुरूरवा के वंश में उत्पन्न गाधि नरेश की सत्यवती नामक पुत्री से भृगु पुत्र ऋचीक ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था।[197] अन्यत्र महर्षि सौरभि द्वारा चक्रवर्ती सम्राट मान्धाता की पुत्रियों से विवाह करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[198] एक अन्य स्थल पर जयद्रथ की ब्राह्मण और क्षत्रियं संवर्ग से उत्पन्न हुई पत्नी के गभर्र में विजय नामक पुत्र का उल्लेख प्राप्त होता है।[199] सिद्धान्त रूप में अनुलोम विवाहो का उल्लेख तो प्राप्त होता है, परन्तु व्यवहार रूप में अनुलोम विवाहों को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। विष्णुपुराण में ही शूद्रा के साथ संबंध रखने वाले ब्राह्मण का उल्लेख प्राप्त हुआ है तथा ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति को श्राद्ध में वर्जित किया गया है।[200]

प्रतिलोम विवाहों को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तति के प्रति गर्हणाबोधक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। प्रतिलोम विवाहों का सर्व प्रसिद्ध उदाहरण जो पौराणिक साहित्य में प्राप्त होता है वह है ययाति और शुक्र ऋषि की पुत्री का विवाह[201] स्मृतियों की ही भांति पुराण भी प्रतिलोम विवाहों को अपेक्षिति नहीं मानते थे। वायु,[202]

ब्रह्माण्ड[203] और मत्स्य[204] पुराणों में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि प्रतिलोम जन्म संतति धर्मच्युत होती है, जिसका शीघ्र पतन होता है। इसके अतिरिक्त विवाहों से उत्पन्न संतानों को सवर्ण विवाहों से उत्पन्न संतानों की तुलना में बहुत कम अधिकार प्राप्त था। यही नहीं अनुलोम विवाहों से उत्पन्न संतान को, पिता की सम्पत्ति में बहुत कम धन प्राप्त होता था।[205]

अनुलोम अथवा प्रतिलोम विवाहों का जो उल्लेख पुराणेतर या पौराणिक साहित्य में प्राप्त होता है, उससे यही प्रतीत होता है कि इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध, समाज में राजा वर्ग या सांमत वर्ग में ही प्रचलित थे। दूसरे शब्दों राज सत्ता, जिस वर्ग के हाथों में केन्दित थी, वही वर्ग, इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित करता था। उदाहरणार्थ पुण्य मित्र शुंग के पुत्र अग्नि मित्र का विवाह क्षत्रिय नरेश यज्ञसेन की पुत्री मालविका के साथ हुआ था।[206] ब्राह्मणवंशी वाकाटक नरेश रूद्रसेन द्वितीय ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता के साथ विवाह किया था।[207] रविकीर्ति नामक ब्राह्मण ने वैश्य कुलाद्भवा भानु गुप्ता से शादी की थी।[208] वाकाटक राज देवसेन के मंत्री सोमनाथ नामक ब्राह्मण ने ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय स्त्री से भी विवाह किया था।[209] कदम्बवंशी शासक मयूर शर्मा जो जाति से ब्राह्मण था, परन्तु उसने अपनी पुत्रियों का विवाह गुप्तों के साथ किया था।[210] इस परम्परा का प्रसार दक्षिण पूर्व एशिया तक में हुआ, जयवर्मन सप्तम की दोनों रानियां ब्राह्मण कुल की थीं। जयवर्मन अष्टम ने

नरपति देश से आयी हुई एक ब्राह्मणी कन्या प्रभा से विवाह किया था।[211] ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज का मध्यम वर्ग अनेक सामाजिक वर्जनाओं तथा निम्न वर्ग सामाजिक वर्जनाओं के अतिरिक्त, आर्थिक रूप से विपन्न होने के कारण इस स्थिति में नही था कि इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों का निर्वहन कर सके। यही कारण है कि इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन समाज के उच्च वर्गो तक ही सीमित था।

विवाह के प्रकारः

विवाह के आठ प्रकारों को मनीषियों द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। विवाह के आठ प्रकारों को ब्रह्म, दैव, आर्य, प्राजापत्य, गान्धर्व, असुर, राक्षस तथा पैशाच के रूप में स्मृतियों में वर्णित किया गया है।[212] मनुस्मृति में भी विवाह के आठ प्रकारों को वर्णित किया करते हुए[213] प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए, राक्षस क्षत्रिय के लिए तथा असुर वैश्य और शूद्र के लिए उचित माना है[214] क्षत्रियों के लिए गान्धर्व विवाह को भी मनु ने उचित माना है।[215] स्मार्त परम्परा का अनुपालन करते हुए, विष्णुपुराण भी विवाह के आठ प्रकारों का वर्णन करता है। इसी संदर्भ में यह भी निर्देशित है कि इस अष्टविधि, में जो विधि, जिस वर्ण के लिए अनुकूल हो तथानुसार द्वारा पाणिग्रहण करना चाहिए। इस बात पर भी बल दिया गया है कि महर्षियों द्वारा जो विधि अनुमोदित नहीं है, उनका परित्याग नहीं करना चाहिए।[216] मुख्य रूप से प्रथम चार विवाहों और अंतिम चार विवाहों को अप्रशस्त माना जाता है।

विवाह की सर्वोच्च कोटि में ब्रह्म विवाह को परिगणित किया जाता था। पिता सच्चरित्र और वेदज्ञवरको आमंत्रित करके, कन्या को वस्त्र और आभूषण से अलंकृत कर कन्या दान देता था।[217] विवाह के इस प्रकार में प्रजा उत्पत्ति तथा उसके साथ धर्म कर्म करने के उद्देश्य में कन्या का परिणय किया जाता था।[218]

विवाह का दूसरा प्रकार दैव था। आपस्तम्ब के अनुसार इस विवाह में पिता ऐसे ऋत्विज को कन्या प्रदान करता था जो श्रौत यज्ञ करा रहा होता था।[219] संभवतः इस प्रकार के विवाह को द्वितीय कोटि में रखा गया है।

विवाह की तृतीय कोटि ''आर्ष'' विवाह थी। इस विवाह में कन्या का पिता, वर से एक बैल और गाय अथवा बैलों की दो जोड़ी ग्रहण कर सविधि कन्या दान करता था।[220] जैमिनि, शवर और अपस्तम्ब इस उपहार को वधू के मूल्य के रूप में नहीं करते हैं।[221] जयशंकर मिश्र ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रायः सभी माता पिता अपनी कन्या का विवाह ऋषियों से करना चाहते थे किन्तु ऋषियों की अन्यमनस्कता से वह मौन हो जाया करते थे। फलतः कन्या का पिता विवाह के प्रति इच्छुक ऋषि से एक गाय या बैल अथवा इनके जोड़े लेता था, जिससे कि प्रमाणित हो ाजए कि वह ऋषि विवाह के प्रति उत्सुक है। अतः वर से प्राप्त कन्या का मूल्य नहीं बल्कि भेंट होता था।[222] जयशंकर मिश्र द्वारा इस संदर्भ में की गयी व्याख्या आदर्शवादी व्याख्या है, वस्तुस्थिति कुछ अलग प्रतीत होती है। सर्वप्रथम इस कोटि के

विवाह को तीसरे स्थान पर रखा गया है। दूसरे इस प्रकार के विवाह में पिता के द्वारा कन्या को अलंकृत करके देने का विधान नहीं प्राप्त होता है, जबकि विवाह के दो अन्य प्रकारों ब्रह्म तथा दैव में पिता द्वारा कन्या को अलंकृत कर देने की बात कही गयी है। इस बात का स्पष्ट संकेत है कि कन्या के मूल्य के रूप में बैलों के युग्मों को ग्रहण किया जाता था, भले ही यह परम्परा के रूप में ही क्यों न रहा हो। जहां तक ऋषियों की अन्यमनस्यकता का प्रश्न है, उस विषय में ही यह उल्लेखनीय है कि हिन्दू सामाजिक विधान में ब्रह्मचारी के गृहस्थ बने बिना सन्यास लेने पर प्रतिबंध ही हीं था अपितु इसे गर्हित समझा जाता था। बौद्ध और जैन व्यवस्था तो इसके प्रतिकूल थी। अतः ऐसी स्थिति में ऋषियों की अन्यमन्स्यकता का प्रश्न हीं नहीं उठता। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों द्वारा मंत्रित्व के अतिरिक्त शासन में विभिन्न पद ग्रहण करने के उदाहरण के साथ ही साथ, ब्राह्मणों द्वारा अनेक व्यवसायों को करने की सूचना प्राप्त होती है। इस बात के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं कि ऋषियों ने न केवल अपने वर्णो में विवाह किया अपितु वर्णो से अन्य वर्णो में भी विवाह किया था। च्वयन ने क्षत्रिय राजकुमारी कुन्या से विवाह किया था।[223] ब्रह्मर्षि च्वयन ने क्षत्रिय राजकुमारी रथवीति को अपनी पत्नी केरूप में स्वीकार किया था।[224] चासुष और काक्षीवान जैसे तपस्वियों का जन्म ब्रह्मर्षि और शूद्रा की संयुक्तता के साथ हुआ था।[225] वशिष्ठ के पुत्र शक्ति का विवाह वैश्य कन्या अदृश्यन्ती से हुआ

था।[226] अगस्त्य ऋषि का विवाह लोपमुद्रा नामक क्षत्रिय कुलोत्पन्न बालिका के साथ हुआ था।[227] इस प्रकार के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं।

संभवतः किसी न किसी रूप में कन्या शुल्क की भावना, चाहे वह परम्परा के रूप में ही अनुपालित होने के कारण ही हो, स्मृतिकारों ने इस विवाह को तीसरा स्थान प्रदान किया था।

चौथे प्रकार का विवाह ''प्राजापत्य'' था। जब पिता वर और कन्या को ''तुम दोनों साथ ही साथ धार्मिक कृत्य करना'' यह कर कर तथा वर को मधुपर्क आदि से सम्मानित कर कन्या दान करता है तो उसे प्राजात्य विवाह कहा जाता है।[228] याज्ञवल्क्य इसे काय की संज्ञा देते हैं,[229] क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में काय का अर्थ होता है। ''प्रजापति ''।[230] वस्तुतः ब्रह्म और प्रजापत्य में बहुत अंतर नहीं था। प्राचीन हिन्दू समाज में सर्वाधिक विवाह का यही प्रकार था।

आसुर विधि को विवाह में वर पक्ष, कन्या को स्वीकार करता था।[231] विष्णुपुराण में वर्णित है कि भृगु के पुत्र ऋचीक, माधि पुत्री सत्यवती से विवाह करना चाहते थे, परन्तु ऋचीक के बार्द्धक्य के कारण, वह उन्हें कन्या देना नहीं चाहते थे। अतः उन्होने कन्या के शुल्कार्य चन्द्रमा और वायु के समान कान्तिमान और वेगमान अश्वतीर्थ नामक स्थान में उत्पन्न एक सहस्त्र श्याम कर्ण अश्वों की मांग की थी। वह एक सहस्त्र अश्वों को प्राप्त

करने के उपरान्त ही, ऋचीक को सत्यवती प्राप्त हुई।[232] वह वैवाकि प्रथा समाज में आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। मनु के अनुसार कन्यादान करता हुआ शूद्र भी कन्या का मूल्य न ले क्योंकि ऐसा करने वाला कन्या बेचने वाला होता है।[233] कन्या के विक्रय करने वाले के मुख का दर्शन न करने को कहा गया है।[234]

विवाह का छठवां प्रकार राक्षस था। विवाह का यह प्रकार काबीलाई मानसिकता का परिचायक था जो कालान्तर में संभवतः विवाह का छठवां प्रकार राक्षस था। विवाह का यह प्रकार काबीलाई मानसिकता का परिचायक था जो कालान्तर में संभवतः शक्ति प्रदर्शन और युद्ध में विजय से जुड़ गया है। महाभारत में स्त्रियों को बलपूर्वक हर ले जाना क्षत्रियों के लिए उत्तम माना गया है। अपहृत कन्या को पूर्णतः अविवाहित तथा उसके साथ अपहर्ता के वैवाहिक सम्बन्धों को समुचित माना गया है।[235] कन्या पक्ष को मारकर अथवा उसको घायल कर, गृह के द्वारा आदि को तोड़कर तथा रोती चिल्लाती कन्या का बालात् अपहरण करके लाने को ही राक्षस विवाह कहा गया है।[236] विष्णुपुराण में राक्षस विवाह का दृष्टान्त प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण ने युद्ध में रुक्मी को परास्त कर रुक्मिणी को प्राप्त किया था तथा उसके साथ सम्यक पूर्वक विवाह सम्पन्न किया था। पुराणकार ने स्वयं इसे राक्षस विवाह की कोटि में रखा है।[237]

विवाह का सातवां प्रकार ''पैशाच'' था। विवाह का यह सातवां प्रकार अत्यन्त निन्दनीय गर्हित माना जाता था। सोती हुई, मदहोश, उन्मत, मदिरा पान की हुई अथवा जाती हुई कन्या को जब व्यक्ति कामयुक्त होकर अपनाता है, तब यह पैशाच विवाह कहलाता है।[238] इस विवाह के स्वरुप के कारण इस प्रकार के विवाह को ब्राह्मणों के लिए सर्वथा वर्जित घोषित किया गया है, केवल क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए ही इस प्रकार का विवाह को विहित बताया गया है।[239]

विवाह का आठवां ''गाधर्व'' था। इस कोटि का विवाह को प्रेम विवाह की कोटि में रखा जा सकता है। इस विवाह में युवक और युवती, दूसरे के प्रति आकर्षित होकर, माता पिता की उपेक्षा कर, विवाह करते है।[240] मनु के अनुसार गान्धर्व विवाह में ''काम तत्व'' की प्रधानता रहती है।[241] नारद इस प्रकार के विवाह को चारो वर्णों में मानते हैं।[242] वात्स्यायन आरम्भ में तो ब्रह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ वर्णित करते हैं तदनन्तर काम के महत्व को स्वीकार करते हुए, ''गान्धर्व'' को ही सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठापित करते हैं।[243] विष्णुपुराण[244] तथा अन्य पुराणों में वर्णित पुरूरवा एवं उर्वशी के परिणायान्त प्रणय, को इस कोटि में रखा जा सकता है।[245] राजकुलों में गान्धर्व बहुत प्रचलित रहा है।[246]

विवाह की एक अन्य कोटि ''स्वयंवर'' था। स्वयंवर को धर्मशास्त्रकारों ने व्यवहारिक रूप से इसे गान्धर्व के समान ही माना है।[247] स्वयंवर के कई

प्रकार है, सबसे सरल प्रकर में कन्या युवावसीा प्राप्त करके तीन वर्ष[248] अथवा तीन माह के उपरान्त, वर को स्वयं ढूढ़ कर विवाह कर सकती थी। राजकुलों में स्वयंवर का आयोजन अत्यन्त भव्य तरीके से होता था। विष्णुपुराण में विवत है कि प्रद्युम्न ने रूक्मी तनया को स्वयंवर में प्राप्त किया था।[249] इसी पुराण में अन्यत्र काशीराज के प्रसंग में उल्लेख प्राप्त होता है कि उन्होनें स्वकन्या के आग्रहवश स्वयंर का आयोजन किया था।[250] गान्धर्व और स्वयंवर में प्रधानतया कन्या एवं वर के पारम्परिक अनुराग की थी, जिसमें माता एवं पिता की भूमिका गौण थी।

बहु विवाहः

बहु विवाह वह प्रथा है जिसके अनुसार एक पुरूष को अपनी पहली पत्नी के जीवित हरते हुए भी अन्य स्त्रियों से विवाह की छूट रहती है। बहु विवाह के कई कारण प्रतीत होते हैं, प्रथम कारण तो संतानोत्पत्ति था। दूसरा कारण राजाओं द्वारा बहु विवाहों द्वारा अपनी राजनैतिक स्थिति सुदृढ़ करना था। जैसा कि चन्द्रगुप्त मौर्य, यज्ञ श्री शातकर्णि और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे राजाओं ने किया था। तीसरा कारण धनी वर्ग की काम लिप्सा और सामाजिक मर्यादा को बहुपलीत्व के साथ जोड़ना था। पुराणों में इसी में मिलते जुलते उदाहरण प्राप्त होते हैं। विष्णुपुराण में वर्णन आता है कि दक्ष प्रजापति ने वंश वृद्धि के लिए अपनी दस कन्याएं धर्म को, तेरह कश्यप को, दो अंगिरा को तथा दो कुशाश्व को प्रदान कीं।[251] प्रसूति के संयोग से

उत्पन्न दक्ष प्रजापति की चौबीस कन्याओं के विषय में पुराणों में वर्णित है कि उन्हें धर्मराज, ऋषि तथा पितरों नें पत्नी के रूप में स्वीकार किया।[252] महर्षि सौरभि ने मान्धाता की पचास कन्याओं से विवाह किया था।[253] विष्णुपुराण में ही राजा शशिविन्दु की एक लाख स्त्रियों थी।[254] आनन्ददुभिव नाम वाले वासुदेव जी की पौरवी, रोहिणी, मदिरा, भद्रा और देवकी आदि स्त्रियों का उल्लेख, विष्णुपुराण में प्राप्त होता है।[255] अनमित्र और अन्धक वंश के राजाओं का वर्णन करते हुए, नृप वसुदेव के साथ वृकदेवा, उपदेवा देवरक्षिता, श्रीदेवा, शान्देवा, सहदेवा आदि सात भागिन्यों के विवाह का उल्लेख प्राप्त होता है।[256] विष्णु और मत्स्य पुराणों से रुक्मिणी आदि सात रानियों के अतिरिक्त, कृष्ण की सोलह हजार रानियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[257]

सूत्रों तथा स्मृतियों में विशेष परिस्थितियों में पुरूषो को दूसरे विवाह की अनुमति प्रदान की गयी है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में वर्णित है कि यदि धर्म अथवा प्रजा दोनों में से एक का भी अभाव हो तो श्रौत कर्म के पूर्व दूसरा विवाह कर लेना चाहिए।[258] पुत्र न होने की स्थिति में बौधायन ने दस वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त[259] तथा कौटिल्य[260] ने आठ वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त विवाह के वशीभूत होने के कारण, अपुत्रता के निवारणार्थ में नृप ज्यामघ का उल्लेख प्राप्त होता है जो पुत्रहीन था। ज्यामघ ने पुत्रहीन होने के कारण अपनी पत्नी शैव्या के वशीभूत होने के कारण, अपुत्रता के

निवारणार्थ दूसरा विवाह हीं कर सका।[261] इस आख्यान से यही प्रमाणित होता है कि संतानहीन होने की स्थिति में पुरूष को दूसरे विवाह की स्वतंत्रता प्राप्त थी। पत्नी के रोग्रस्त, धूर्त, वन्ध्या मदिरा सेवा करने वाली, अत्यधिक व्यय करने वाली, अप्रियवादिनी, पतिद्वेष्ज्ञिनी, आदि के रहते हुए व्यक्ति को दूसरे विवाह की अनुमति प्रदान की गयी है।[262] सामाजिक व्यवस्थाओं द्वारा यह समस्त प्रतिबन्ध बहुपलत्व की प्रथा पर रोक लगाने के उद्देश्य से किये गये है। सामंतवाद व्यापार था वाणिज्य के प्रसार के साथ-साथ बहुपलीत्व निश्चित रूप से बढी होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है।

बहु पतित्वः

प्रसिद्ध समाजशास्त्री माइकेल ने 'समाज शास्त्रीय विश्वकोष'' में बहुपतित्व को परिभाषित करते हुए लिखा है कि एक स्त्री द्वारा एक पति के जीवित होते हुए अन्य पुरूषों से विवाह करना अथवा एक समय पर ही दो या दो से अधिक पुरूषों से विवाह करना बहुपतित्व कहलाता है।[263] अन्यत्र इसको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि बहुपतित्व वह संबंध है जिसमें स्त्री एक समय में एक से अधिक पतिवरण कर लेती है अथवा जिसके अंर्तगत अनेक भाई के स्त्री अथवा पत्नी का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।[264] बहुपतित्व दो प्रकार का हो सकता था, प्रथम प्रकार को भातृ-सापेक्ष बहुपतित्व विवाह (थ्ंजमतदंस चवसलंदकतल) कहा जाता है, इस प्रकार के वैवाहिक संबंधों का उदाहरण द्रौपी और उसके पांच पतियों का है, जिसका

उल्लेख विष्णुपुराण और मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है।[265] इसका दूसरा उदाहरण मरिषा का है जिसके दस पतियों का उल्लेख विष्णुपुराण में प्राप्त होता है।[266] दूसरे प्रकार को अभातृ बहुपतित्व विवाह (छवज जिमतदंस चवसलंदकतल) कहा जाता है, इस स्वरूप का कोई उदाहरण विष्णुपुराण में तो नहीं प्राप्त होता है, परन्तु महाभारत में जटिल गौतमी के सात ऋषी पतियों का वर्णन प्राप्त होता है।[267] बहुपतित्व के उदाहरण गिने चुने ही प्राप्त होते हैं वस्तुतः इस प्रकार की परम्परा पुरातन जनजातिय विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। पुराणों में जो उदाहरण इस संबंध में प्राप्त होते है। वह पूर्वकाल की स्मृति का परिचायक है, जिसका प्रसंगवश उल्लेख कर दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता हे कि पौराणिक युग में इस प्रथा का प्रचलन संभवतः नहीं के बराबर था और न तो इसे किसी प्रकार का सामाजिक समर्थन प्राप्त था।

अन्त्येष्टिः

अन्त्येष्टि ही एक ऐसा अंतिम संस्कार था, जिसमें व्यक्ति की सहभागिता नहीं रहती थी, जिसे उसके पुत्र तथा सम्बन्धी परलोक में उसके भावी सुख अथवा कल्याण के लिए करते थे।[268] बौधायनगृह्यसूत्र में वर्णित है कि जन्म के बाद के संस्कारों द्वारा मनुष्य इस लोक को विजित करता है जबकि मृत्युपरांन्त के संस्कारों द्वार परलोक विजित करता है।[269] अन्य संस्कारों के अपेक्षानुकूल, विष्णुपुराण में इस संस्कार का विशद विवेचन प्राप्त

होता है। विष्णुपुराण के अनुसार मृतक की देह का स्नान कराकर, पुष्प माता से विभूषित कर, गांव के बाहर जलाकर, जलाशय में सवस्त्र स्नान करना चाहिए। इसके पश्चात 'यत्र तत्र स्थितायैतद्मुदकाय'' आदि का उच्चारण करते हुए जलान्जलि देना चाहिए। गोधूलि के समय नक्षात्रों के दिखाई देने पर गांव में प्रवेश कर अशौच कृत्य का सम्पादन निहित है। मृत व्यक्ति के लिए भूमि पर पिण्ड दान करना उचित है। अशौच की स्थिति में केवल दिन में भोजन करने का विधान प्राप्त होता है, भोजन में मांस का प्रयोग वर्जित था। इस काल में ब्राह्मणों की इच्छानुसार भोजन कराने से मृतक की आत्मा संतुष्ट होती है। अशौच के पहले, तीसरे और सातवें अथवा नवें दिन वस्त्र का त्याग कर बाहर स्नान करना चाहिए। मृतक के पुत्र को अशौच के चौथे दिन अस्थि चयन करने का आदेश विहित है। इसके पश्चात् व्यक्ति सपिण्डों के अंगो का स्पर्श कर सकता है। भस्म और अस्थि के संकलन के उपरान्त व्यक्ति शय्या और आसन का प्रयोग कर सकता है परन्तु दाह संस्कार किये व्यक्ति के लिए इस काल तक स्त्री संग वर्जित था। बालक, प्रवासी, पतित और तपस्वी के मरने तथा उद्बंधन द्वारा आत्मघात करने पर अशौचय की शीघ्र निवृत्ति होती है। सामन्यता ब्राह्मण का अशौच दस दिन, क्षत्रिय का बारह दिन, वैश्य का पन्द्रह दिन तथा शूद्र का एक मास रहता है। अशौच के अंत में विषम संख्या में ब्राह्मणों को भोजन करना चाहिए, तदन्तर उनके

उच्छित के निकट प्रेतात्मा के प्रीणनार्थ कुश पर पिण्डदान करने का विधान किया गया है।[270]

आश्रमः

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में वर्ण के समान ही आश्रम को महत्व प्रदान किया है। आश्रम व्यवस्था अपने स्वरूप में वर्ण व्यवस्था से परवर्ती प्रतीत होती है, चारो आश्रमों का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं प्राप्त होता है जो कि स्वाभाविक है। वैदिक सभ्यता मूलतः चारागाही सभ्यता थी। वैदिक आर्य संक्रमण की स्थिति में थे। स्थायित्व के अभाव में आश्रम जैसी सामाजिक विचारधारा का अभ्युदय असंभव प्रतीत होता है। यहीं कारण है कि वेद में ब्रह्मचारी, गृहपति, पति तथा मुनि जैसे शब्द तो पाये जाते हैं परन्तु आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आश्रम शब्द का कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण[271] मर्में प्राप्त एक स्थल की व्याख्या करते हुए सायण ने, चारों आश्रमों का विवेचन किया है।[272] परन्तु मूल श्लोक में आश्रम का उल्लेख न होना, सायण के मत को स्वीकार करने में बाधा उत्पन्न करता है। वस्तुतः आश्रम व्यवस्था आर्यो के समाज में स्थायित्व, व्यापार एवं कृषि के विस्तार और नागरीय सभ्यता के उन्नयनयन से सम्बन्धित है। वैदिक आर्य मुख्यतः युद्धथ में व्यस्त रहते थे और उस परिवेश में चार आश्रमों की व्यवस्था का विकास करना उनके लिए सुगम नहीं प्रतीत होता है। कार्णे भी वैदिक साहित्य में चारों आश्रमों के

अस्फुट उल्लेख को ही स्वीकार करते हैं।[273] संभवतः उपनिषदों के काल से "आश्रम" की सामाजिक व्यवस्था नें अपना वास्तविक स्वरूप ग्रहण कर लिया था[274] और इस काल तक स्पष्टः तीन आश्रमों का स्वरूप प्रकाश में आ चुका था।[275] धर्म सूत्रों के काल के चौथे आश्रम का भी विकास हो चला था।

आश्रम शब्द संस्कृत के श्रम धातु से उद्‌भुत है, जिसका अर्थ होता है परिश्रम और उद्योग। जीवन के परम लक्ष्य "मोक्ष" को निरन्तर श्रम करते हुए, जीवन के विभिन्न अवस्थाओं से गुजरने के क्रम की ही अभिव्यक्ति "आश्रम" था। वस्तुतः इस अवस्था को अनवरत रूप से श्रम करते हुए प्राप्त नहीं किया जा सकता था। आश्रम परम पद तक पहुंचने में विश्राम का भी विकास हो चला था, आश्रम परम पद तक पहुंचने में विश्राम स्थल का कर्य करता था।[276] कुछ विद्वान इसे "शरण" लेना मानते हैं।[277]

ब्रह्मचर्यः

यह्न व्यक्ति के जीवन का प्रथम आश्रम था। इस आश्रम का उद्‌देश्य इन्द्रियों का निग्रह करते हुए, शिक्षा प्राप्त करना था। जितेन्द्रिय निरालस्य के रूप मे रहना ब्रह्मचारी का धर्म कहा गया है।[278] धार्मिक आश्रम विद्यार्थी के दो प्रमुख उद्‌देश्य, बुद्धि का विकास और चरित्र का निर्माण थे।[279] उपनयन संस्कार के अन्तर्गत बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था।[280] विष्णुपुराण

की व्यवस्था के अनुसार उपनयन समाप्त होने के उपरान्त ही बालक को ब्रह्मचर्य-निर्वाहार्थ तथा वेदाध्ययानार्थ गुरू गृह का आश्रम लेना चाहिए।[281] ब्रह्मचर्य आश्रम का मुख्य उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना था, अतः ब्रह्मचर्य में सिद्धि तभी मिल सकती है, जबकि विद्यार्थी अध्ययन में रत रहे।[282]

विष्णुपुराण में निहित है कि ब्रह्मचारी को पवित्रता से रहना चाहिए, उसे एकाग्रचित होकर, नित्य प्रति दोनों संध्याओं में सूर्य और अग्नि की उपासना करनी चाहिए।[283] ब्रह्मचर्य आश्रम का मूलभूत उद्देश्य धर्म को सम्यकरूपण बोधित करना था। इसमें ब्रह्मचारी को धर्म की शिक्षा देने के साथ ही साथ, उनके अध्ययन पर ध्यान दिया जाता था। त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम में इसका विशेष सम्बन्ध धर्म से था।[284] अपने इस परम उद्देश्य की प्राप्ति ब्रह्मचारी अपने मृदु स्वभाव तथा इन्द्रियों का निग्रह कर तथा प्रमाद से दूर रह कर प्राप्त कर सकता था।[285]

गृहस्थः

गृहस्थ आश्रम के स्वरूप के कारण शास्त्रों में सबसे अधिक महत्व प्रदान किया गया है। जैसे पृथ्वी आकाश और पाताल दोनों को ही धारण करती है उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम अन्य आश्रमों को धारण किये हुए था, जैसे सब बड़ी छोटी नदियां सागर में संस्थित हो जाती है उसी प्रकार आश्रम गृहस्थ आश्रम में।[286] इस आश्रम के महत्व का पता इसी बात से चलता है

कि इसकी तुलना वायु से की गयी है, जिस पर पृथ्वी पर समस्त प्राणियों के जीवन के लिए वायु आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थ पर निर्भर है क्योंकि तीनों आश्रमवासियों का पोषण ज्ञान और अन्न के द्वारा प्रतिदिन गृहस्थ के द्वारा होता है, इसी कारण से गृहस्थ आश्रम सर्वश्रेष्ठ आश्रम है।[287] संभवतः इसी कारण से गौतम धर्म सूत्र और मनु स्मृति में अन्य तीनों आश्रमों को इसी आश्रम से उद्भूत माना गया है।[288] स्मार्त परम्परा का अवलम्बन करते हुए, विष्णुपुराण भी गृहस्थ आश्रम को अन्य आश्रमों का स्त्रोत माना है।[289] अपने सामाजिक संतुलन वाले स्वरूप के कारण ही इस आश्रम को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया, अन्य तीनों आश्रमों की तुलना मे गृहस्थ का ही समाज से प्रत्यक्ष सम्पर्क था।[290] गृहस्थ आश्रम एक सूर्य की भांति या उसके चारों ओर अन्य ग्रहों की भांति, अन्य सभी आश्रम चक्कर लगाया करते थे।

गृहस्थ आश्रम का बोधन कई शब्दों में होता है। ऋग्वेद में गृहस्थ के लिए ''गृहपति'' शब्द आया है। वायु, ब्रह्माण्ड ओर मस्त्य पुराणों में कहीं–कहीं इसके लिए ''गृही'' शब्द आया है।[291] ऐसी प्रवृत्ति वेदोत्तवर्ती थी। कालिदास भी इसी परम्परा का अनुपालन करते हुए, गृहस्थ के लिए ''गृही'' शब्द का प्रयोग करते हैं।[292]

स्मृतियों में तीन प्रकार के ऋणों का विधान किया गया है, दैव, ऋषि, एवं पितृ ऋण। इन ऋणों को व्याख्यापित करते हुए मनु ने व्याख्यापित

किया है कि विधि अनुसार वेदों को पढ़कर, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न कर, और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठा कर, मोक्ष में मन लगाना चाहिए।[293] महाभारत मे भी उल्लेख प्राप्त होता है कि विधि पूर्वक किये गये यज्ञों से पितृगणों को, यज्ञ द्वारा देवताओं को और स्वाध्याय द्वारा ऋषियों को पूजित करें।[294] विष्णुपुराण में भी इन तीनों ऋणों से ऋण मुक्त होने का प्रावधान किया गया है।[295] भूतों की संतुष्टि के लिए गृहस्थ को बलिकर्म निष्पन्न करना चाहिए। इसी प्रकार विष्णुपुराण में वर्णित है कि व्यक्ति स्वाध्याय से ऋषियों की पूजा करता है।[296] मत्स्य पुराण में भी मुनियों के अर्चनार्थ गृहस्थ द्वारा स्वाध्याय रत रहना अपेक्षित बताया गया है।[297]

गृहस्थ से अपेक्षा की जाती है कि वह पांच महायज्ञों का संपादन करे। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए, गृहस्थ से पांच तरह की हिंसाए होती थीं कण्डनी (ओखली में अन्य छाटने से), पैषणी (पीसने से), चुल्ली (चूल्हे से भोजन बनाने से), जलकुंभी (कुंए से घड़े में जल लेने से) तथा प्रमार्जनी (झाडू देने से)[298] इन हिंसाओं के परिमार्जन के लिए ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ तथा अन्य नृपज्ञ का विधान या। ऐसा निरूपित है कि ब्रह्म यज्ञ, स्वाध्याय तथा तर्पण, 'होम बलिकर्म और अतिथि सत्कार क्रमशः पितृयज्ञ, भूत यज्ञ एवं नृपयज्ञ के द्योतनार्थ विहित है।[299]

वानप्रस्थ आश्रमः

गृहस्थ के समस्त कर्तव्यों के परिपालन के उपरान्त व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। यह आश्रम सन्यास आश्रम की पूर्व पीठिका प्रस्तुत करता था। एक प्रकार से सन्यास आश्रम की तैयारी की अवस्था माना गया है।[300] इस विषय में विष्णुपुराण का मत है कि गृहस्थ के उचित कर्तव्यों के निर्वहन के उपरान्त, अवस्था ढलने पर मनुष्य को वानप्रस्थी होना चाहिए।[301] गृहस्थ आश्रम के उपरान्त, वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश ने करना अनुचित माना जाता था। विष्णुपुराण में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन पापकर्ता के रूप में हुआ है। अपने व्यक्तिगत जीवन में एक सीमा तक सुखों का उपभोग कर लेने के उपरान्त व्यक्ति से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने स्थान को भावी पीढ़ी के लिए रिक्त कर, मोक्ष के मार्ग अनुपालन करे। समाज में सामंजस्य और संतुलन के लिए, इस प्रकार की व्यवस्था अति आवश्यक थी। गृहस्थ सुलभ भौतिक सुखों की उपेक्षा कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना शुभदायक घोषित किया गया है।[302] इसी प्रसंग में विष्णुपुराण में ययाति की कथा का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्होने समस्त राजोचित संखों से मन भर जाने के उपरान्त वनवास ग्रहण किया था।[303] मनु ने भी कहा है कि जब गृहस्थ अपने शरीर पर पका हुआ बाल, चमड़े की झुर्रियां तथा प्रपौत्र को देख लें, उस समय उसे वन का आश्रय लेना चाहिए,[304] मनु के उपर्युक्त श्लोक पर व्याख्या करते हुए भाष्कर कुल्लूक के अनुसार 50

वर्षों की आयु का हो जाने के उपरानत व्यक्ति का इस आश्रम का अधिकारी था।[305] पौराणिक साहित्य में वान्रपस्थ के लिए कहीं-कहीं पर वैरवानस शब्द का प्रयोग मिलता है। वायु ब्रह्माण्ड पुराणों में एक स्थान पर तीसरे आश्रमवासी को वैरमानस की संज्ञा दी गयी है।[306] विष्णुपुराण में भी वानप्रस्थ आश्रमी सौभारि के क्रिया कलाप के लिए ''वैरवानस-निष्पाद्य'' शब्द विशेषणार्थ प्रयुक्त हुआ है।[307] वानप्रस्थ या सन्यासी के अर्थ में वैनवानस शब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा का निर्वहन प्रतीत होता है जो पुराणों द्वारा किया जा रहा था। ताण्ड्व महाब्राह्मण में उन वैरवानस ऋषियों का वर्णन मिलता है जो मुनिमरण नामक स्थान पर मृत्यु को प्राप्त हुए थे।[308] तैत्तरीय आरण्यक में वैरवानस को प्रजापति के नख के रूप में वर्णित किया गया है।[309] वैरवानस पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए काणे ने वैरवानस शब्द को वानप्रस्थ का मूल माना है।[310] जो उचित प्रतीत होता है। क्षीरस्वामी (अमरकोष के भाष्यकर) ने वैरवानस और वानप्रस्थ दोनों को एक ही अर्थ वाला बताया है।[311]

वानप्रस्थ का प्रमुख उद्देश्य कठोर तपस्या द्वार मोक्ष की प्राप्ति करना था। मत्स्य पुराण के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने वैरवानस विधि के अनुसार दुष्कर तपस्या का आचरण किया था।[312] वानप्रस्थी के जीवन के परम आदर्श को वर्णित करते हुए विष्णुपुराण, वानप्रस्थी के लिए शीत और ऊष्णा को सहन करते हुए, तपचर्या का विधान करता है।[313]

वानप्रस्था आश्रम में व्यक्ति को कर्म, फल और मूल का आहार करने का विधान विष्णुपुराण में प्रस्तुत किया गया है।[314] वस्तुतः गृहस्थ आश्रम के परित्याग के बाद व्यक्ति से यह आशा की जाती थी, वह अपने आचार एवं व्यवहार के अनुसार ही, सादा और संयमित भोजन ग्रहण करें। मत्स्यपुराण में वर्णित है कि वानप्रस्थी का आहार नियमित होना चाहिए।[315] वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में भी वानप्रस्थी के लिए वन्यात्र, मूल, फल और औषधि के ग्रहण करने का विधान प्राप्त करते हैं।[316] वानप्रस्थी के खान पान के संबंध में पुराण स्मार्त परम्परा का अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं, मनुस्मृति में विहित है कि वानप्रस्थी को शाकुल और मूल पर ही जीवन का निर्वा करना चाहिए।[317] वानप्रस्थियों के लिए खान-पान की जिस व्यवस्था का निर्धारण किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि वानप्रस्थियों के लिए संभवतः खुद पका कर खाने को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था क्योंकि न तो किसी स्मृतिकार ने अथवा किसी पुराण ने, वानप्रस्थियों के लिए पकाकर कुछ भी खाने का प्राविधान किया है। बौधायन धर्म सूत्र में वानप्रस्थ के दो भेद बताए गये हैं। ''पचमानक'' जो स्वयं भोजन पका कर खाते थे और ''अपचमानक'' की जो पका भोजन नहीं पकाते थे।[318]

विष्णुपुराण के अनुसार वानप्रस्थी को अपना परिधान और उत्तरीय वन सुलभ्श्रा धर्म, और काशा से बनाना चाहिए।[319] वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति के द्वारा जिन आदर्श, सहजता और सरलता की अपेक्षा की जाती थी, उस

अवस्था के अनुपालन के लिए सहजोपलब्ध वस्त्र वहीं हो सकता था जो वन से ही प्राप्त है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी उसके लिए अपने वस्त्रों की आवश्यकता मृगचर्म और पत्तों से पूरा करने के लिए कहा गया है।[320] पुराणों के कथन की पुष्टि स्मृतियों द्वारा भी होती है, मनुस्मृति में वानप्रस्थी के लिए चर्मचीर धारण की व्यवस्था विहित है।[321] जार्ज बूलर ने मनु के उपर्युक्त श्लोक का अनुवाद करते हुए, इसके दो अर्थ किये हैं- कटा-फटा कपड़ा तथा कुश अथवा वत्कल।[322]

सन्यास आश्रमः

सन्यास का व्यक्ति जीवन के अंतिम लक्ष्य ''मोक्ष'' को प्राप्त कराना था। विद्वानों की अवधारणा है कि आरम्भ में केवल तीन ही आश्रम थे। वानप्रस्थ तथा सन्यास एक ही में स्थित थे।[323] संभवतः उत्तर वैदिक काल तक तीन आश्रमों की ही व्यवस्था, समाज द्वारा सम्पादित हो रही थी। कुछ वैदिक आचार्य उपनिषदकाल के उत्तरार्ध में न केवल भिक्षु जीवन से परिचित थे अपितु उसको आदर्श मानना चाहते थे। किन्तु इन उल्लेखों से यह नहीं सुव्यक्त होता है कि इस समय वैदिक धर्म के अन्दर चारो आश्रमों का व्यवस्थित आदर्श प्रतिष्ठा लाभ कर चुका था।[324] डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे सन्या को, कुछ हद तक अवैदिक परम्परा से प्रभावित मानते हैं। तपस्या मुनियों की एक स्वतंत्र परम्परा थी जो कि वैदिक काल से पहले से चली आ रही थी।[325] सूत्र ग्रन्थों के काल में चार आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त

होता होने लगता है। गौतम धर्म सूत्र में ब्रह्मचारी, वैरवानस तथा भिक्षु शब्द मिलते हैं।[326] आपस्तम्य धर्म[327] सूत्र में गृहस्थ, आचार्यकुल, मौन तथा वानप्रस्थ की व्याख्यापना हुई है, जिसें आचार्य कुल का तात्पर्य ब्रह्मचर्य से तथा मौन का सन्यास आश्रम से है। वशिष्ठ धर्म सूत्र में एक स्थल पर वर्णित है कि आश्रम चार है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, तथा परिव्राजक।[328] ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म सूत्रों के काल तक चौथे आश्रम ''सन्यास'' का विकास हो चुका था।

अंतिम आश्रम की प्रतिष्ठापना सामान्यतया सन्यास आश्रम के रूप में थी परन्तु कभी-कभी इसका उल्लेख 'भिक्षु' आश्रम के रूप में किया गया है।[329] एक अन्य स्थल पर विष्णुपुराण में चतुर्थ आश्रम के प्रवेशार्थी सौरभि मुनि को भिक्षु कहा गया है।[330] अन्यत्र चतुर्थ आश्रम को स्वीकार करने वाले को परिवाट की संज्ञा प्रदत्त है।[331] मत्स्य पुराण में चतुर्थ आश्रम को भिक्षु शब्द से अभिहित किया गया है।[332] सन्यासियों के प्राचीन व्यवहृत शब्द 'यती' है। ऋग्वेद में उन यातियों का उल्लेख है जिन्होने इन्द्र से रक्षित प्रस्कण्य के विरूद्ध भृगु की रक्षा किया था।[333] अर्थवेद में इन्द्र को यातियों का इन्ता बताया गया है।[334] ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में यति आर्य धर्म से सम्बन्धित नहीं थे।[335] ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में 'यातियों' के आचरण को सन्यास के रूप में प्रतिष्ठापित कर लिया गया। इसी कारण से

धर्मसूत्र और स्मृतियों में चतुर्थ आश्रम के लिए 'यति' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है।[336]

विष्णुपुराण के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि वह गृहस्थ के पश्चात् वानप्रस्थी बने, तत्पश्चात् परिव्राजक का धर्म स्वीकार करे अन्यथा वो पाप का भागी होता है।[337] वायु पुराण में वर्णित है कि ज्ञान प्राप्ति, आश्रम-त्रय के क्रमशः परित्याग करने के उपरान्त अंतिम आश्रम में होती है।[338] व्यक्ति अपने जीवन के तीसरे भाग को वन मे व्यतीत कर परिवाट् बनता है।[339] परन्तु सर्वदा यह आवश्यक नहीं था कि व्यक्ति गृहस्थ आश्रम एवं वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त ही, सन्यास आश्रम में प्रवेश करे। कभी-कभी ब्रह्मचर्य अथवा गृहस्थ आश्रमोपरांत भी सन्या धर्म की दीक्षा ले सकता है। जावलोपनिषद् में ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ आश्रम के वाद वानप्रस्थी अथवा परिव्राजक मानना वैकल्पिक माना गया है।[340] विष्णु पुराण में भी उल्लेख प्राप्त होता है कि ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ मे प्रवेश करना चाहिए, परन्तु पूर्व संकल्प के अनुसार यदि मनुष्य चाहे तो वह गुरू, गुरुकृपा अथवा गुरुपत्नी की सेवा में रह रहते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम में जीवन व्यतीत कर सकता है,[341] यहीं वह अपनी इच्छानुसार वैरवानस अथवा परिव्राट भी बन सकता है।[342] वायु पुराण में मित्र ज्योति नामक नृप के पुत्रों के विषय का वर्णन प्राप्त होता है कि गृहस्थ आश्रम का परित्याग करने के उपरान्त उन्होने यति धर्म का आश्रय लिया था।[343] यद्यपि आश्रमों के क्रम का

उल्लंघन करना उचित नहीं समझा जाता था परन्तु विशेष परिस्थितियों मे व्यक्ति, आश्रमों के क्रम का व्यक्तिक्रम कर सकता था। वानप्रस्थ अथवा सन्यास आश्रम का अनुपालन आवश्यक था, विष्णु पुराण में गृहस्थ आश्रम के उपरान्त वानप्रस्थ अथवा सन्यास आश्रम के न ग्रहण करने वाले को पापी कहा गया है।[344]

विष्णुपुराण के अनुसार तृतीय आश्रम के अंतर्गत पुत्र, द्रव्य तथा स्त्री आदि के स्नेह को सर्वथा त्याग कर तथा मात्सर्य को छोड़कर, चौथे आश्रम में प्रवेश करने का विधान है।[345] रोमिला थापर ने सन्यास अपनाने वाले को दो वर्गों का उल्लेख किया है। प्रथम वर्ग में वे लोग आते थे जो व्यक्तिगत रूप से अपने को पूर्णतः अलग करके सन्यासी हो जाते थे। दूसरे वर्ग में वे लोग आते थे जो वानप्रस्थ का परित्याग कर संसार त्यागियों के समूह में सम्मिलित होकर साधना करते थे।[346] पहला वर्ग योगियों का था और दूसरा वर्ग 'त्यागी' सन्यासियों का था। योगियों का स्थान समाज में अत्यन्त उच्च था और वह बहुत ही आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। विष्णुपुराण में योगियों को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। पुराण के अनुसार वितृगण का आधार चन्द्रमा है और चन्द्रमा का आधार योग है, इसलिए श्राद्ध में योगिजन को नियुक्त करना अति उत्तम है। यदि श्राद्ध भोजी एक सहस्त्र ब्राह्मणों के समुख एक योगी भी हो तो वह यजमान के सहित सबका उद्धार कर देता है।[347]

शिक्षाः

भारतीय मनीषियों ने तीन लोकों की कल्पना की थी ओर तीनों लोकों को जीतने के लिए अलग-अलग कर्मो की व्याख्या की थी। विभिन्न लोकों के परिकल्पना लोक, देव लोक ओर पितृ लोक के रूप में की थी। मनुष्य लोक को पुत्र द्वारा जीता जा सकता है, किसी और कर्म से नहीं, पितृ लोक पर विजय यज्ञादि कर्मो द्वारा पायी जा सकती है तथा देव लोक को केवल विद्या द्वारा जीता जा सकता है। समस्त लोकों में देवलोक ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः विद्या प्रसंशनीय है।[348] भारतीय परम्पराओं में विद्या को यहां पर अर्थ से अधिक धर्म से जोड़ दिया गया था तथा विद्या का मूल उद्देश्य अर्थोपार्जन नहीं अपितु मोक्ष था। धार्मिक की प्रवरता के कारण वैदिक काल से यह अवधारणा विकसित हो गयी थी कि जो व्यक्ति अनेक प्रकार की विद्या का अध्ययन करते रहते हैं, वे देवताओं को प्रसन्न करते हैं तथा अपनी कामनाओं को पूर्ण करते है।[349] सद् की प्रतिष्ठापना करने के कारण ही ज्ञान को मनुष्य के तीसरे नेत्र के रूप में वर्णित किया गया है जो समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ करता है तथा उसे सही कार्यो की ओर प्रवृत्त करता है।[350]

परम्परा-परिवाह में पल्लविन शिक्षा के इसी उच्च आदर्श की प्रतिस्थापना विष्णुपुराण करता है। विष्णुपुराण में वर्णित है कि वास्तविक विद्या वहीं है जो मुक्ति का साधन है। यह तो विद्या का मूल स्वरूप हुआ, उसका

दूसरा स्वरूप वह है जिसके द्वारा व्यक्ति शिल्प नैपुण्य प्राप्त करने में सफल होता है।[351] इस प्रकार विष्णुपुराण शिक्षा के दो स्वरूपों को वर्णित करता है। यह ज्ञान व्यक्ति को दो प्रकार से प्राप्त होता है, तत्व शास्त्र एवं विवेक से।[352] व्यक्ति का अज्ञान घोर अन्धकार के समान होता है[353] जिसे व्यक्ति विद्या रूपी नेत्र से दूर करता है। इसी कारण से कहा गया है कि न तो विद्या के समान कोई नेत्र है और न तो सत्य के समान कोई तपस्या।[354] वस्तुतः जीवन का परम या सर्वोच्च उद्देश्य मोक्ष था और मोक्ष बिना विद्या लाभ के संभव नहीं था, विष्णुपुराण के अनुरूप ही महाभारत के प्रसंगानुकूल स्थल से यह अभिव्यंजना निकलती है।[355]

विद्यारम्भ का कालः

बालक की व्यवस्थित शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार के बाद होता था। इस संदर्भ में विष्णुपुराण का कथन है कि उपनयन संस्कार से संस्कृत होने के उपरान्त विद्याध्ययनार्थ गुरू का आश्रय लेना चाहिए।[356] इसी प्रकरण में अन्यत्र में गुरू गृह प्रस्थान की इस यात्रा को तीर्थ यात्रा से समीकृत किया गया है तो गुरू तीर्थ को सर्वोच्च तीर्थ के रूप में वर्णित किया गया है।[357]

ऐसा प्रतीत होता है कि गुरू के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व बालक के अक्षर ज्ञान गृहस्थ द्वारा घर पर ही करा दिया जाता था। यद्यपि

कि विष्णुपुराण में इस बात का स्पष्ट संकेत नहीं प्राप्त होता है परन्तु अन्य ग्रन्थों में इस तथ्य का विधान प्राप्त होता है कि बालक को उपनयन के पूर्व, घर पर ही प्रारम्भिक शिक्षा आरम्भ हो जाती थी। अपरार्क ने मार्कण्डेय पुराण और 'स्मृति' को उद्धत करते हुए लिखा है कि बालक की शिक्षा पांच वर्ष की अवस्था से आरम्भ हो जाती थी।[358] सूत्र[359] ग्रन्थ तथा स्मृतियों ब्राह्मण बालक के सम्बन्ध में उपनयन की निम्मनत् आयु सीमा आठ वर्ष निर्धारित करते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पांचवे वर्ष में बालक की शिक्षा का प्राविधान बालक के घर पर ही होता था। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का मत उल्लेखनीय है, उनेक अनुसार बालक को चौलकर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था।[360] कालिदास ने भी चौलकर्म के साथ लिपि ज्ञान का निर्देश किया है।[361] उत्तर रामचरित में लव और कुश के विषय में विवृत है कि विद्यारंभ उनके चौलकर्म के साथ हो गया था।[362] विद्यारंभ की यह प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती है। बालक को अच्छी तरह से लिपि ज्ञान आदि से परिचित कराके ही, उपनयन के पश्चात् गुरू के आश्रम को भेजना ही उचित प्रतीत होता है।

गुरुकुलः

बौद्धों के समय हिन्दू शिक्षा व्यवस्था में विश्विविद्यालयों की व्यवस्था नहीं प्रतीत होती। पौराणिक साहित्य में विश्वविद्यालय के समान किसी ऐसी संस्था का परिचय नहीं प्राप्त होता है जिससे पता चले कि हिन्दू शिक्षा के

केन्द्रों के रूप में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई हो। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू व्यवस्था कई प्रकार से संचालित होती थी। सर्वप्रथम विद्वान व्यक्ति अपने घर पर ही बालकों को शिक्षित करते थे। दूसरा शिक्षा का केन्द्र गुरुकुल प्रतीत होता है, तीसरा ऋषियों का आश्रम, चौथा तीर्थ स्थान तथा विद्वन्यमण्डली।

छान्दोग्य-उपनिषद में निरूपित है कि आरुणि ने अपने पुत्र को दर्शन के गूढ़ तत्वों को परिचित कराया था।[363] विष्णुपुराण में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है परन्तु ब्रह्माण्ड पुराण से ज्ञात होता है कि शिवदत्त नामक ब्राह्मण ने अपने पुत्रों को सांगोपांग वेदों का अध्ययन कराया था।[364] उपर्युक्त उदाहरण से आलोक में इस बात की परिकल्पना की जा सकती है कि विद्वान परिवारों में बालक को शिक्षा घर पर ही दी जाती थी।

गुरुकुल शिक्षा का दूसरा केन्द्र था। विष्णुपुराण में गुरुकुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[365] बालक को चाहिए कि उपनयन संस्कार के अनवन्तर वेदाध्ययन में तत्पर होकर ब्रह्मचर्य का अवलम्बन कर, सावधानी पूर्वक गुरुग्रह में निवास करे।[366]

प्राचीन भारत में शिक्षा मुख्यतः प्रवचन के द्वारा दी जाती थी। विष्णुपुराण में वर्णित है कि पितामह अब्जयोनि के प्रवचन से ऋषियों ने प्रस्तुत पुराण ज्ञान का लाभ किया था। इस विषय में ऐसा आख्याय है कि

ब्रह्मा के शिष्य प्रशिष्यों ने अपने गुरुओं से इसका श्रवण किया था।[367] वस्तुतः वैदिक काल में प्रवचन एवं श्रवण शैली शिक्षा प्रदान करने के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी थी। प्रवचन तथा श्रवण विधि का वैदिक वाड्मय के प्रवाह में महान योगदान था।[368] इन शैली का पौराणिक काल में और भी ज्यादा विकास हुआ होगा क्योंकि पुराणों में "श्रवण" पूरी तरह संयुक्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस शैली को लोकप्रिय बनाने के लिए पुराणकारों ने इस क्षेत्र में कुछ अभिनव प्रयोग किया था। मत्स्य पुराण में उसका उल्लेख प्राप्त होता है कि पुराण में प्रवक्ता वर्ण्य शैली को ग्राह्य एवं रोचक बनाने का प्रयास करते थे।

अध्ययन के विषयः

विवेच्य काल में ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों का अध्ययन शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। वेदों के ज्ञान से रहित व्यक्ति को पालकी और नग्र के रूप में वर्णित किया गया है।[369] वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में भी वेदों को मनुष्य का संवरण तथा इसके परित्याग करने वालों को नग्न के रूप में विस्तृत किया गया है।[370]

ऋग्वेद के विषय में विष्णुपुराण का मत है कि सृष्टि के आदि में ईश्वर से आविर्भूत वेद ऋक्यर्जु आदि चार पादों से युक्त और एक लाख मंत्र वाला था।[371] अट्ठाइसवें द्वापर में व्यास ने एक ही चतुष्पाद वेद के, चार

भेद (ऋक, यजुस, सामन और अथर्वन्) किया।[372] उनमें से व्यास ने पैल को ऋग्वेद, वैश्मपायन को चतुर्वेद, जैमिनि को सामवेद तथा सुमन्तु को अथर्ववेद की शिक्षा दी।[373] वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विष्णुपुराण का मत है कि सर्ग के आदि में ब्रह्मा के पूर्व मुख ऋक्, दक्षिण मुख्स से यजुम, पश्चिम मुख से सामन् और उत्तर मुख से अर्थवन् की सृष्टि हुई।[374]

गुरुकुल में वेदाध्ययन के प्रसंग में वर्णन आता है कि और्व ने सागर से कहा कि गुरु गृह में अन्तेवासी छात्रों को शौच और आचार व्रत का पालन करते हुए गुरु की सेवा करते हुए, व्रतादि का आचरण करते हुए स्थिर बुद्धि से वेदाध्ययन करना चाहिए।[375] अन्यत्र कृष्ण और बलराम के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होता है कि दोनों भाई चारों वेदों की शिक्षा से ज्ञान प्राप्त कर लाभान्वित हुए।[376] वर्णान्तर में साम वेद का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की उपमा कुश से दी गयी है।[377] यजुर्वेद की शिक्षा के बारे में विष्णुपुराण का मत है कि व्यास की शिष्य वैशम्पायन ने यजुर्वेद रूपी वृक्ष की सत्ताईस शाखाओं की रचना की, और अपने शिष्यों को पढ़ाया तथा शिष्यों ने भी क्रमशः उन्हे ग्रहण किया।[378]

वेदाध्यन को अत्यधिक महत्व देने के पीछे कई कारण थे। पहला वेद, अपौरुषेय जाने जाते थे जिनके बारे मे अवधारणा थी कि यह ब्रह्मा से उत्पन्न है। इसी कारण से वेद ज्ञाता ब्राह्मण को पूज्य घोषित किया गया है।[379] दूसरे वेदों का अपना अलग धार्मिक महत्व था, व्यक्ति चाहे किसी

सम्प्रदाय का हो, चाहे वह किसी भी देवता की आराधना करता हो, वेद उसके लिए प्रत्येक स्थिति में मान्य थे। जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण अध्याय का आरम्भ वेदों की ऋचाओं, के उद्‌बोधन के मध्य होता था। विष्णुपुराण में वर्णित है कि राम के राज्याभिषेक के अवसर पर कुल पुरोहित ऋक, यजु और साम के द्वारा स्तुति कर रहे थे।[380] यही नहीं प्रत्येक मंगलकारी अवसरों पर वेदों का पाठ आवश्यक था। मत्स्य पुराण में आख्यात है कि उद्यानादि के निर्माण के अवसर पर .ऋक, यजु और साम के मन्त्रों द्वारा गाय को स्नान कराना चाहिए।[381]

विष्णुपुराण में वेदों के अतिरिक्त छः वेदांगों, मीमांसा, न्याय पुराण, धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र इन अट्ठारह विद्याओं का वर्णन प्राप्त होता है।[382] एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि सूत जातीय रोमहर्षण को महामुनि व्यास जी ने अपने इतिहास और पुराण के विद्यार्थी के रूप में ग्रहण किया।[383] एक अन्य प्रसंग में ऋक, यजुस. समान. अथर्ववेद, इतिहास (महाभारतादि), उपवेद (आयुवेदादि), वेदान्तवाद, वेदांग, मन्वादि धर्मशास्त्र, आख्यान् अनुवाद (कल्पसुत्र), काव्यालाप तथा रागरागिनीमय संगीत आदि साहित्यों का उल्लेख हुआ है।[384] विष्णुपुराण में वेदत्रयी, कृषि और दण्डनीति की चर्चा है।[385] इसके अतिरिक्त विष्णुपुराण में अट्ठारह महापुराणों का उल्लेख प्राप्त होता है।[386]

गुरू शिष्य सम्बन्धः

ब्रह्मचारी का कतर्व्य था कि वह गुरू के आश्रम में निवास करता हुआ, गुरू की सेवा करते हुए विद्याग्रहण करे। सगर के प्रसंग में उल्लेख आता है कि गुरू गृह में अन्तेवासी छात्र को शौच और आचार व्रत का पालन करते हुए गुरू की सेवा सुशुषा करनी चाहिए तथा व्रतादि का आचरण करते हुए स्थिर बुद्धि से वेदाध्ययन करना चाहिए।[387] श्रद्धा और सेवा ऐसे गुण थे जो गुरू के ज्ञान के लिए आवश्यक थे। प्रहलाद के प्रसंग में वर्णित है कि प्रहलाद ने गुरू की सेवा शुश्रुवा करके ज्ञानार्जन किया था।[388]

शिष्य की भक्ति, सेवा तथा सुश्रषा से प्रसन्न होकर गुरू शिष्य को शिक्षित करता था। ये ऐसे गुण थे जो ब्रह्मचारी को विनत और विनयशील बनाते थे। विनत और विनयशील व्यक्ति ही, शिक्षा को समुचित रूप से ग्रहण कर सकता था, उद्दण्ड और धृष्ट विद्यार्थी नहीं। यही कारण है कि संकर्षण और कृष्ण के चरित्र से संतुष्ट होने के उपरान्त ही सन्दीपनि मुनि ने उन्हें शस्त्रादि का उपदेश दिया था।[389] शिक्षा में व्यवस्थापिकता के अभाव के कारण, शिक्षार्थी को यह छूट नहीं थी कि वह पैसा देकर किसी भी आचार्य की सेवाओं को प्राप्त कर ले। ज्ञान वितरण के पूर्व शिष्य की पात्रता की परीक्षा आवश्यक थी, आचार्य शिष्य को अपने संरक्षण में, उसी समय स्वीकार करता था, जब वह उसके गुणों से पूर्ण रूप से संतुष्ट हो जाता था।[390] विष्णु स्मृति में इसी अवधारणा को व्याख्यापित करते हुए कहा गया

है कि अपरिचित व्यक्ति को न तो यज्ञ करना चाहिए और न ही उसे अध्यापित करना चाहिए।[391] इसी प्रसंग में भीष्म का उदाहरण दिया जा सकता है उन्होने श्रद्धापूर्वक कलिंग नामक द्विज से ज्ञान का लाभ किया था।[392]

वायु पुराण मे वर्णित है कि योग विद्या ऐसे शिष्य को सिखनी चाहिए, जो गुरू के समीप एक वर्ष तक रह चुका हो। इसके विपरीत पापी, अपविज्ञ तथा एक वर्ग से कम के निवासी को ऐसा ज्ञान वितरण करने से निषिद्ध किया।[393] कभी-कभी तो शिष्य की योग्यता, श्रद्धा तथा पात्रता से प्रभावित होकर गुरू स्वयं शिष्य के पास पहुंचकर विद्या दान देते थे। विष्णुपुराण में वर्णित है कि ऋभु ने निदाध से कहा था कि पहले उसने सेवा शुश्रुया कर उन ऋषि का बहुत आदर किया था। अतः उसके स्त्रेहवश वह,उसे पुनः उपदेश देने उपस्थित हुए थे।[394]

गुरू को दुर्लभ तथा संसार में नक्षत्र के समान अंधकार को दूर करने वाला वर्णित किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में गुरू शब्द की व्यत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि 'गु' कार का अर्थ अन्धकार होता है, 'रू' कार निरोध करने की क्रिया को कहते हैं। अन्धकार का निरोध करने के कारण उसे गुरू कहा जाता है।[395] शिष्य के ही भांति गुरू के भी शिष्य के प्रति कर्तव्य थे। विष्णुपुराण इस संदर्भ में [illegible] शिष्य और पुत्र के मध्य किसी भी प्रकार के भेद को नहीं करने को कहता है।[396] गुरू को शिष्य का

सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ था कि शिष्य के दोषों का कारण भी गुरू को ही माना जाता था। विष्णुपुराण में वर्णित है कि प्रहलाद को दोषयुक्त पा कर उसका पिता सारा दोष उसके गुरू के मत्थे मढ़ रहा था।[397] वस्तुतः गुरू और शिष्य का जीवन इस तरह से सम्पृक्त था कि दोनों ही समाज में एक दूसरी का दर्पण समझे जाते थे। उसके प्रशिक्षण और अनुशासन का सारा उत्तरदायित्व आचार्य पर निर्भर था।[398] शिष्य को पुत्र मानने की परम्परा पौराणिक काल की देन नहीं थी, आपस्तम्ब धर्म सूत्र में भी निरूपित है कि आचार्य को शिष्य के साथ पुत्रवत व्यवहार करना चाहिए।[399]

शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त शिष्य से अपेक्षा की जाती थी कि वह यथाशक्ति गुरू को गुरू दक्षिणा प्रदान करे। विष्णुपुराण के अनुसार, शिष्य को, शिक्षापरांत, गुरू दक्षिणा प्रदान करे। विष्णुपुराण के अनुसार, शिष्य को, शिक्षोपरांत, गुरू दक्षिणा देकर घर वापस लौटना चाहिए।[400] अन्यत्र वर्णित है कि वेदों के अध्ययन को समाप्त करने के उपरान्त, गुरू की अनुमति से उन्हे गुरू दक्षिणा, देकर, गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[401] जिस समय केशिध्वज खाण्डिक्य से ज्ञान लाभ कर लौट रहे थे, उनका मन दक्षिणा न देने के कारण स्थिर नहीं था। अतएव अपनी मूल के स्मरणोपरान्त वे पुनः खाण्डिक्य के पास दक्षिणा प्रदान करने गये थे।[402] संभवतः शिष्यों द्वारा प्रदत्त गुरू दक्षिणा, गुरू की अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति समझी जाती थी और गुरू उस सम्पदा का प्रयोग अपनी आवश्यकतानुसार कर सकता था। गुरू के

लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह दक्षिणा में केवल धन की मांग करे, वह अपनी इच्छानुसार और शिष्य के सामर्थ्यानुसार कुछ भी मांग कर सकता था। विष्णुपुराण मे कृष्ण और बलराम के प्रसंग में वर्णित है कि भ्राता द्वय ने ऋषि से अनुमोदन किया कि वे गुरु दक्षिणा में उन्हे क्या अर्पित करे?[403] उनके अतीन्द्रिय कर्मों को देखकर मुनि ने प्रभाव क्षेत्र के खारे समुद्र में डूब कर मरे हुए अपने पुत्र को वापस मांगा।[404] कृष्ण और बलराम ने यम यातना भोगते हुए, उस बालक को पूर्ववत शरीरयुक्त, सान्दीपनि मुनि के पास पहुंचा दिया।[405]

कभी-कभी बालक के अध्यापन कार्य एक ही व्यक्ति के द्वारा किया जाता था। विष्णु पुराण में प्रहलाद की शिक्षा का सारा उत्तरदायित्व राज पुरोहित के कन्धों पर था।[406] ऐसी स्थिति राज्य द्वारा एक निश्चित धनराशि, शिक्षा के कार्य को सम्पादन करने के लिए दी जाती रही होगी। अल्टेकर भी ऐसी ही संभावना व्यक्त करते हैं उनके अनुसार जहां कभीं राजपुरोहितों की, राजकुमारों को शिक्षित करने का दायित्व सौंपा गया था, ऐसी स्थिति मे राज पुरोहित को उदरवृत्ति के लिए अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी।[407] अन्य ऋषिकुलों एवं गुरुकुलों में ऋषियों और गुरूओं की आय का साधन गुरू दक्षिणा और दान ही था। मनु भी इस संबंध को व्याख्यापित करते हैं कि विद्यार्थी को घर वापस आते समय गुरू को अपनी शक्ति के अनुसार खेत, सोना, गाय, अश्व तथा छत्र आदि दक्षिणा में देना चाहिए।[408]

शिक्षा के क्षेत्र में भी पुराणों तथा स्मृतियों के वर्ण्य वस्तु में भेद प्राप्त होता है। स्मृतियों के वर्णन के विपरीत, विष्णुपुराण में शिक्षा संबंधी व्यवस्था का वर्णन प्रसंगवश हुआ है, स्मृतियों की तरह, उसका वर्णन क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित प्रकार से नहीं किया गया। इस विषय में पहले ही वर्णित किया जा चुका है कि पुराणों का उद्देश्य अलग था और स्मृतियों का अलग। अतः दोनों में वर्णन साम्य की अपेक्षा करनी चाहिए। पौराणिक शिक्षा के विवेचन से एक बात बहुत ही स्पष्ट रूप से उभर कर आती है कि प्राचीन हिन्दू शिक्षा पद्धति वैज्ञानिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा को महत्व नहीं प्रदान किया गया था। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं, एक तो व्यवसाय अथवा शिल्प को शूद्र वृत्ति से जोड़ देने के कारण, इसे आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। दूसरी भारतीय चिन्तन की परम्परा में मोक्ष को अर्थ से अधिक महत्व प्रदान किया गया था। यही कारण है कि भारत इस क्षेत्र मे अपेक्षित उन्नति नहीं कर सका।

आहार-विहार तथा मनोरंजन के साधनः

विष्णुपुराण से ज्ञात होता है, अनाज दो प्रकार के थे, प्रथम श्रेणी में ग्राम अनाज आते थे और दूसरी श्रेणी में अन्य अनाज आते थे। अन्य और ग्राम्य अनाजों दोनों को मिलाकर संख्या चौदह थी। संभवतः ग्राम्य अनाजों को खेतों को जोत कर उत्पन्न किया जाता था तथा अन्य अनाजों की श्रेणी मे जंगलों में अपने आप उत्पन्न होने वाले अनाज आते थे। अन्नों को विष्णु

पुराण मे निम्नांकित रूप से वर्णित किया गया है, ब्रीहि (धान), यव (जौ), भाष (उड़द), मुदग (मूंग), मसूर निष्पाद (बड़ी मसूर), कुलत्थ (कुलथी), आठक्य (अरहर), चणक (चना) और शरण (सन), इन समस्त प्रकार के अन्नों को ग्राम औषधियों कहा गया है।[409] यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली चौदह ग्राम्य और वन्य औषधियों का वर्णन विष्णु पुराण में इसी प्रकार से किया गया है- धान, जौ, उड़द, गेहूँ, छोटे, धान, तिल, कागजी और कुलथी- ये आठ तथा श्यामक (सावां), नीवार, वनतिल, गदेधु, वेणुपव और मर्कट (मक्का अथवा मकरा)[410]

पौराणिक काल में उपर्युक्त अन्नं से तैयार किये गये विभिन्न प्रकार के व्यंजनों को ग्रहण किया जाता था। इसी प्रसंग मे यावक अथवा यवागू का वर्णन विष्णुपुराण में प्राप्त होता है। विष्णु पुराण के अनुसार जिस समय गृहस्थ निदाध के घर उसके आचार्य ऋभु घर पहुंचें थे तब उसने यावक बनाकर खिलाने की इच्छा की थी। ऋभु ने यावक को कुत्सित बताकर इसे ग्रहण करने से मना कर दिया था।[411] अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि यावक बनाने के लिए तौल से जितना यव लिया जाये, बना हुआ यावक उसका दुगना होना चाहिए।[412] महाभाष्य से ज्ञात होता है कि यवागू आधुनिक लस्सी की तरह का कोई द्रव भोजन था।[413]

सुक्त का उल्लेख विष्णुपुराण में एक निःस्वाद भोजन के रूप में हुआ है।[414] वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में श्राद्ध सम्बन्धी भोज्य पदार्थों के अन्तर्गत

इसे निरूपित किया गया है, श्राद्ध में इसे देने से पितरों को एक वर्ष की तृप्ति मिलती है।[415] मत्स्य पुराण में वर्णित है कि जब कभी भविष्यकालीन अनिष्ट की सूचना मिले, तब उस समय वायु की सुक्त से पूजा सम्पन्न करनी चाहिए।[416] सुक्त को शुद्ध वाणी का उपमान माना है।[417]

विष्णुपुराण में वर्णित अपूप का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आ रहा था। ऋग्वेद में अपूप का वर्णन उपलब्ध है।[418] विष्णुपुराण में निदाध अतिथि रूप में आये ऋभु को अपूप खिलाने का प्रस्ताव रखता है।[419] वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि श्राद्ध में इसे खिलाने से पितरों की तृप्ति एक वर्ष के लिए होती है।[420] मत्स्य पुराण में रस कल्याणिनी नामक व्रत के अवसर पर, ब्राह्मणों को दिया गया अपूप दान महाफलदायी वर्णित किया है।[421]

विष्णुपुराण में ज्ञात होता है कि बाटी या घटक एक अन्य तत्कालीन समाज का लोकप्रिय व्यंजन था। विष्णुपुराण मे वाटी का उल्लेख, महर्षि ऋभु के स्वागत मे संदर्भ में समर्पित व्यंजन के रूप में हुआ है।[422] मत्स्य पुराण में बटक का पर्णन शुक्र शान्ति के लिए आपेक्षित उपकरणों में परिगणित है।[423]

"सर्वेषां मधुरं प्रियम्" सभी को मधुरता प्रिय है, यह उक्ति पौराणिक काल में भोजन के ऊपर चरितार्थ होती है। भोजन एक प्रमुख एवं लोकप्रिय

व्यंजन के रूप में "मिष्ठान" को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। मिष्ठान की लोकप्रियता इतनी थी कि विष्णु पुराणकार "मिष्ठान्नाहार" को अकेले ग्रहण करने से निषिद्ध करते हैं।[424] मिष्ठान्न के प्रयोग में गुड़ एवं शकर का उपयोग होता था तथा इसका प्रयोग भी बहुतायत से होता था।[425] निदाध को उपदेश देते हुए, ऋभु को गुड़ को पार्थिव परमाणु के रूप में व्याख्यापित करते हैं।[426] संभवतः मिष्ठानों में सर्वाधिक लोकप्रिय मोदक था परन्तु इसका उल्लेख विष्णुपुराण में नही प्राप्त होता है।

पौराणिक साहित्य के विवेचन से ज्ञात होता है कि समाज मे मांस भक्षण की प्रवृत्ति थी और समाज के अधिकांश व्यक्ति मांस का प्रयोग भोजन के एक प्रमुख अंग के रूप में करते थे। यद्यपि कि मांस भक्षण के प्रति एक निषेधातमक विचारधाराओं का उदय हो रहा था, मनु के अनुसार मांस भक्षण न करने वालों को अश्वमेघ का फल प्राप्त होता है। मांस के परित्याग से मनुष्य देवगणों को प्रसन्न करता है, उसे मांस भक्षण के परित्याग के अनुपलब्ध की उपलब्धि होती है।[427] इस निषेधात्मक प्रवृत्ति के बाद भी पुराणों तथा स्मृतियों के उदाहरण समाज में व्याप्त मांस भक्षण की प्रवृत्ति की ओर ही संकत करते है।

आश्चर्यजनक रूप से विष्णु पुराण में श्राद्ध के अवसर पर, मांस तर्पण का विधान किया गया है। विष्णु पुराण में वर्णित है कि हवि, मस्त्य, शशक, नकुल, शूकर, छाग, कस्तूरी, मृग, कृष्ण मृग, गवय (जंगली गाय) भेड़ तथा

गव्य से पितृगण क्रमशः एक-एक मांस अधिक तृप्ति लाभ करते हैं।[428] वार्धीणस के मांस से पूर्वज सदा तृप्त रहते है।[429] इसी प्रकार श्राद्ध में गैडे का मांस को अत्यन्त तृप्तिदायक वर्णित किया गया है।[430] विष्णुपुराण के अनुसार ही इक्ष्वाकु ने अष्टका श्राद्ध में पुत्र विकुक्षि को श्राद्ध योग्य मांस खाने का आदेश दिया था,[431] एक अन्य वर्णन में श्राद्ध के लिए मछली, खरगोश, नकुल, शूकर, बकरा, लैणेय (मृग), रौरव (मृग), गवय, भेड़, वार्धीणस तथा गैंडा की व्यवस्था की गई है।[432] कूर्म पुराण में भी श्राद्ध के अवसर पर विभिन्न पशुओं के मांस तपर्ण का विधान प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार वितर मछली के मांस से दो माह, हिरण के मांस से तीन माह, और श्वेण के मास से चार से नौ माह, पक्षियों के मांस से तीन माह, छाग के मांस से छह माह, चित्तीदार हिरण के मांस से सात माह, काले वारसिंहे के मांस से नौ माह, रूरू हिरण के मांस से नौ माह, शूकर के मांस दस माह, महिषी के मांस से छह माह, कछुए के मांस से सात माह, सुअर के मांस से नौ माह और भैसे, भेड़ तथा सियार के मांस से श्राद्ध करने पर बाहर वर्षो तक के लिए तृप्ति होती है।[433] अग्नि पुराण के अनुसार मछली से दो मास, हिरण के मास से तीन माह, पक्षियों के मास से चार माह, रूरू (हिरण) के मांस से पांच माह, बकरे के मांस से छह माह, कछुए के मांस से सात माह, सुअर के मांस से नौ माह और भैसें, भेड़ तथा सियार के मांस, कालसाक, लाल रंग के बकर, मधु और महासल्क (बड़ी

मछली या रोहू) आदि से किया जाने वाला श्राद्ध, अक्षय फलदायी वर्णित किया गया है।[434] ब्रह्म पुराण में भी वर्णित है कि मत्स्य से दो मास, हिरण के मांस से तीन माह, खरगोश के मांस से पितरों को चार मास, पक्षी के मांस से पांच मास, शकूर के मांस से छह मास, बकरे के मांस से सात माह, हिरण के मांस से आठ मास, कृष्ण मृग के मांस से नौ मास, सुरागाय का मासं से दस मास, भेड़े का मांस से ग्यारह मास, तक पितरों को तृप्ति देता है।[435] इसी प्रसंग का विस्तार करते हुए आगे वर्णित है कि अपने वंशज द्वारा किये गये गैड़े का मांस, लाल बकरे का मांस, पटुआ साग, मधु रोह मछली, पितरों को तृप्ति प्रदान करते हैं।[436]

स्त्रियों के मदिरापान से सम्बन्धित विष्णुपुराण में उदाहरण नहीं प्राप्त होता है, परन्तु ब्रह्माण्ड पुराण स्त्री को अपने पति के सामने ही मदिरा पान की अनुमति प्रदान करता है। इसके प्रतिकूल आचरण करने वाली स्त्री को लोलुप, उन्मादिनी और त्याज्य बताया गया है।[437] मस्त्य पुराण में स्त्रियों के द्वारा मद्य पान का उल्लेख प्राप्त होता है।[438] ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में यदा कदा स्त्रियों द्वारा मदिरापान किया जाता था परन्तु यह निन्दनीय माना जाता था।[439] याज्ञवल्क्य स्मृति में सुरापान करने वाली ब्राह्मणी को पति लोक नहीं प्राप्त होता है, वह अपने आगे के जन्मों में कुतिया, गिद्धनी एवं शूकरी होती है।[440] मदिरा के अनेक प्रकारो का उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रह्माण्ड पुराण में गौड़ी, पैष्टी, माध्वी, कादम्बरी, हैताली, लांगलेया, तालजाता

तथा सुरा आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[441] रामायण में भी सुरा के भेद प्रभेदों का उल्लेख प्राप्त होता है।[442]

धार्मिक अवसरों पर सुरापान की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि वाजपेय के अवसर पर सुरापात्र उपहारार्थ प्रस्तुत किया जाता था।[443] कात्यायन श्रौतसूत्र में सौत्रायणि नामक यज्ञ में ऐस पुरोहित का उल्लेख प्राप्त होता है जो अत्यधिक मदिरा का पान करता था।[444] आदिकालीन परम्परा में मदिरा का श्रद्धेय स्वरूप और पुराणकालीन धार्मिक क्रिया कलाप से जुड़े रहने के कारण[445] मदिरा का प्रचलन, स्मृतियों के मुखर विरोध के बाद भी समाज में बना रहा। वस्तुतः सामंत वाद के प्रसार ने मदिरा पान की परम्परा का और भी प्रसार किया होगा। रघुवंश से ज्ञात होता है कि राजाओं के लिए अलग से मधुशालाएं निर्मित की जाती थी, जिनमें अच्छी सुगंधित मदिरा की व्यवस्था होती थी।[446] पूर्व मध्यकालीन प्रतिमाओं से भी मदिरापान के प्रचलन का परिज्ञान होता है। बलराम को मदिरा का पात्र हाथों में धारण किये हुए, अंकित किया गया है।[447] इसी संबंध में लखनऊ संग्रहालय में पभोसा से प्राप्त हुई सातवीं शताब्दी की एक कुबेर प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है, जहां नकुलक और मद्यपान के साथ अंकित किया गया है तथा उसके पास दो घट रखे गये थे।[448] हुवेनसांग के कथन से भी समाज में मद्यपान की प्रवृत्ति का पता चलता है। उसके अनुसार अंगूर एवं ईख की मदिरा क्षत्रिय पीते थे,

वैश्व चुआयी हुई शराब पीते थे, बौद्ध भिक्षु एवं ब्राह्मण गन्ने एवं अंगूर का रस पीते थे।[449]

अभिनय एवं नाटकः

अभिनय और नाट्य व्यक्ति के मनोरंजनों के साधन के रूप में समाज में पूरी तरह से जुड़े हुए थे। राजाओं द्वारा बड़ी-बड़ी रंगशालाओ का निर्माण कराया जाता था, जहां पर नाटको इत्यादि का मंचन होता था। विष्णुपुराण में कंस की महान रंगशाला का वर्णन प्राप्त होता है।[450] रंगशाला में लोगों के बैठने की व्यवस्था होती थी, जिसमें सामान्य जन तथा राजपुरूष अलग-अलग बैठते थे। राजकुल की स्त्रियों तथा बारांगनाओं को बैठने का स्थान अलग-अलग होता था।[451] नाटक का मनोरंजन के साधन के रूप में तो महत्वपूर्ण स्थान वर्णित था परन्तु इसमें भाग लेने वालों को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। विष्णुपुराण रंग कर्मियों की अर्थात नाकट को जीविका का साधन बनाने वालों को नरकगामी वर्णित करता है।[452]

उत्सवः

राजाओं एवं नागरिकों द्वारा उत्सवों का आयोजन एक प्रमुख मनोरंजन का साधन था। गुप्त काल में आयोजित कौमुदी महोत्सव को राज्याश्रय प्राप्त था।[453] विष्णुपुराण में वर्णित है कि श्रीकृष्ण मथुरा के निवासियो के लिए महोत्सव के समान आनन्दप्रद थे।[454] महोत्सवों एवं उत्सवों का आयोजन,

थकान एवं तनाव कम करने के लिए किया जाता था। असुरों को पराजित करने के उपरान्त देवताओं ने सुमेरू पर्वत पर महोत्सव का आयोजन किया था, जिसमें भाग लेने के लिए अप्सराएं भी आयी थी।[455] ऐसा प्रतीत होता है कि महोत्सव, समाजोत्सव, देवोत्सव और वृक्षोत्सव इन चार प्रकार के उत्सवों का आयोजन किया जाता था।[456]

नृत्यः

जन सामान्य एवं राजा दोनों ही वर्ग नृत्य का आनन्द लेते थे। इस संबंध में याज्ञवल्क्य की उक्ति है कि राजा सभी कार्यो से मुक्त होकर संध्या के समय नृत्य का आनन्द लेता था।[457] विष्णुपुराण में वारांगनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है,.[458] ये वारांगनायें संभवतः नृत्य विद्या में प्रवीण होती थी।[459] कालिदास ने नृत्य द्वारा आंगिक, सात्विक और वाचिक विषयो का अभिनय प्रस्तुत करने का उल्लेख किया है।[460] विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण को भांति (भ्रम), रेचक तथा दण्डपाल नामक नृत्य संबंधी गतियों का ज्ञाता बताया गया है।[461] विष्णुपुराण में नृत्य के इन विविध गतियों के उल्लेख से पता चलता है कि विवेच्य काल मे नृत्य मनोरंजन का एक प्रमुख साधन था।

संगीत एवं गीतः

गीत एवं संगीत मनोरंजन का एक अन्य साधन था, विष्णुपुराण में वर्णित है कि श्रीराम के राज्याभिषेक के अवसर पर वाद्य, गीत और नृत्य का आयोजन हुआ था, जिसमें वीणा, वेणु, मृदंग, भेरी, पटह, शंख, काहल और गोमुख आदि बाद्यों का प्रयोग किया गया था।[462] वासुदेव के जन्म के अवसर पर भीआनक, दुन्दभि आदि बाजे बजाये गये थे।[463] विष्णुपुराण में गोप एवं गोपियों को गीत और बाद्य में कुशल वर्णित किया गया है, जो बलराम के साथ मदिरा-पान करते थे।.[464] उत्सव के अवसरों पर मृदंग और सूर्य आदि बाजों के बजाने का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णुपुराण में वर्णित है कि जब कंस के मल्ल हारने लगे तो सूर्य आदि बाजो को बंद करा दिया तब आकाश से अनेक सूर्य एक साथ बजने लगे।[465] एक प्रसंग में बॉसुरी के माध्यम से, विभिन्न थोनियों के स्वरूप का परिचय कराया गया है जिस प्रकार से अभिन्न रूप से व्याप्त बॉसुरी के एक छिद्रों से भेषज षडज आदि भेद होते हैं, उसी प्रकार शरीरादि उपाधियों के धारण एक ही परमात्मा के देवता मनुष्यादि अनेक भेद प्रतीत होते है।[466] अन्यत्र वर्णित है कि वसुदेव के जन्म लेते ही देवताओं ने अपनी अव्याहत दृष्टि से यह देखकर कि इनके घर में भगवान जन्म लेगें, आनक और दुन्दभि बाजे आदि बजाये। इसीलिए इनका नाम आनकदुन्दिभी हुआ।[467] बाद्य के आधार पर नाकरण, वाद्यों एवं संगीत से जन-जीवन के जुड़े रहने की बात कहता है।

बाल सुलभ क्रीड़ा :

विष्णुपुराण में बलराम एवं कृष्ण के बचपन के प्रंसंग का चित्रण करते हुए, बाल सुलभ चंचलता और माधुर्य का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। बलराम और कृष्ण कभी गौओं के साथ मनोहर गान और तान छेड़ते या कभी अत्यन्त शीतल वृक्ष तल का आश्रय लेत हुए विचरते रहते। वे कभी कदम्ब पुष्पों के विचित्र हार बना लेते, कभी मयूर पिच्छ की माला से सुशोभित होते और कभी नाना प्रकार की पर्वतीय धातुओं से अपने शरीर को ढक लेते। कभी मेघ के गर्जन पर ''हा–हा'' करके कोलाहल मचाने लगते। कभी दूसरे गोपों के गाने पर आप दोनो उसकी प्रशंसा करते और ग्वालों की बॉसरी बजाते हुए, मयूर की बोली का अनुसरण करने लगते।[468] इस प्रकार के वे दोनों अत्यन्त प्रीति के साथ नाना प्रकार के भावों से परस्पर खेलते हुए प्रसन्नचित से वन में विचरने लगे।[469]

बालकों में हरिक्रीडन नामक खेल बहुत लोकप्रिय था।[470] इस खेल में एक निश्चित लक्ष्य के पास दो–दो बालक एक साथ हिरन की भांति उछलते हुए जाते थे, जो दोनों में पहले पहुंच जाता वह विजयी होता था, हारा हुआ बालक जीते हुए बालक को अपनी पीठ पर चढ़ाकर मुख्य स्थान तक ले जाता था। विष्णुपुराण में वर्णित है कि इस खेल में जो भी बालक हारे थे वे सब जीतने वालो को अपने–अपने कंधे पर चढ़ाकर भाण्डीरवट तक ले जाकर फिर लौट आए।[471]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विष्णु पु० 3/8/40

2. विष्णु पुराण के उपयुर्क्त श्लोक पर श्रीधर का टीका, पृ० 331

3. छा० उ० 5/10/7

4. काणे : ध० शा० इ (हिन्दी संस्करण) पृ० 120

5. बौ० ध० सू० 1/9/16 – वर्णसंकरादुत्पत्रान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणः

6. मनु 10/24

7. गौतम 11/9-19

8. एपीग्रेफिया इण्डिका, जिल्द 8, पृ० 60-61

9. पाण्डेय, विमल चन्द्र, प्रा० भा० रा० सा० ई० पू० 530

10. पुरी, वी०एन० इण्डिया अण्डर दि कुषाणाज पृ० 88

11. हाजरा, पु० रि० हि० रा० क० पी टी ।।, प्रथम अध्याय में उद्धत, विष्णु पु० वायु (अध्याय 58) ब्राह्माण्ड मत्स्य (अध्याय 114)

12. मुकर्जी, वी० एन० इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, जुलाई 1980 जनवरी भाग 7 (प्रकाशित लेख) पृ० 4

13. भगवद्गीता 1/41-43

14. मुकर्जी, बी०एन०, आई एच आर में प्रकाशित लेख, पृ० 4

15. पाठ्क, सर्वानन्द, वि० पु० भा० पृ० 86

16. विष्णु पुराण 4/2/10

17. विष्णु पुराण 4/19/23-26

18. वही 4/19/25-26

19. उपर्युक्त पर श्रीधर की व्याख्या भाग 2 पृ0 82

20. विष्णु पु0 4/19/29-32

21. वही 4/19/60

22. 4/19/60 पर श्रीधर का भाष्य, भाग ।। पृ0 84 शरद्धतो गौतमात्। स्कः स्खलितम्। क्षत्रोपेता द्विजातय इति क्षत्रिया एवं सन्तः केनाचित् कारणेन ब्राह्माणा बभूवुरित्यर्थः।

23. मनु 10/64-65, गौतम 4/18-19, याज्ञवल्क्य 1/96

24. गौतम 4/18-19 - वर्णान्तरगमनमुत्कर्षाभ्यां सप्तमेपंचमें वाचार्याः। सृष्ट्यन्तरजातानां च।

25. सैक्रेड बुक आफ इ ईस्ट खण्ड 25, पृ0 416

26. याज्ञवल्क्य 1/96

27. पार्जिटर : ए0 हि0 ट्रे0 पृ0 243

28. पार्जिटर : वही पृ0 244

29. ऋग् 7/642, 8/25/8

30. विष्णु पु0 3/8/39

31. गौ0 ध0 सू0 7/6

32. मनु 10/81

33. मेधातिथिः की उपयुर्क्त श्लोक पर टीका, जयन्तकृष्ण दवे द्वारा सम्पादित 'मनु स्मृति' भाग 5, पृ0 339

34. वही पृ0 339

35. पार्जिटर, वही पृ0 244

36. मत्स्य 272/32-37, वायु 99/343-47, ब्रह्म0 3/74/156-160, भाग 12/1/19-21

37. वेदार्थदीप, ऋग्वेद 6/52, पार्जिटर द्वारा उद्धित पृ0 245

38. पार्जिटर : वही पृ0 245

39. वैदिक एज, पृ0 276

40. कारम्बेलकर, वी डब्लू, द अथर वैदिक सिवलाजेशन पृ0 259

41. वैदिक एज पृ0 276, विष्णु पु0 4/2/10

42. वायु0 88/5-7

43. भागवत् 9/6/2-3

45. मैकडानल, वैदिक माइथोलॉजी पृ0 143

46. ऋग्वेद 1/75/2, 127/2

47. वही 1/100/4, 130/3

48. वही 7/44/4

49. वही 10/14/3-5

50. वही 1/71/2, 6/2

51. हरि0 1/29/84

52. वही 1/32/40

53. वही 1/32/20

54. वही 1/32/60-68

55. ऋग्वेद 10/14/6

56. कारम्बलेकर, द अ0 सि0 पृ0 26

57. विष्णु पु0 4/19/29-32

58. पाण्डेय, वीणा पाणि, हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन पृ0 123

59. हरि 1/29/74

60. हरि0 1/30/3 'यातुस्तु मोक्षामास्थाय ब्रह्मभूतोभऽन्मुनिः।

61. वही 1/32/3, 4

62. वही 1/31/33

63. वही 1/31/34

64. विष्णु पु04/18/13

65. विष्णु पुराण के श्लोक 4/18/13, पर श्रीधर की व्याख्या, विष्णु पुराण भाग 11, नृ0 79

66. मत्स्य पु0 48/40

67. अग्रवाल, वी0 एस0 मत्स्य पुराण ए स्टडी, पृ0 150 पर उद्धत

68. हरिवंश

69. विल्सन, विष्णु पुराण भाग 2 पृ0 621

70. सलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, बसिम प्लेट आफ, विन्ध्यशक्ति II, पंक्ति 2-3, पृ0 407

71. वही, पृ0 195 तथा 204

72. कूर्म पु0 1/20, 25-8, लिंग पु0 1/65, 39-43, वायु पु0 88/71-9, विष्णु पु0 4/3/2-3

73. पाठक, वी0 एस0, वही पृ0 25

74. वही

75. वही

76. वही

77. पुरी, बैजनाथ, इहिक्का, जिल्द 8, पृ0 162-63

78. पाठक, विशुद्धानन्द, उ0 भा0 रा0 ई0 पृ0 124

79. ए0 ई0 पृ0 97-8

80. वही XII पृ0 10 तथा आगे

81. वही पृ0 29 तथा आगे

82. ई0 ऐ0 XXXIX, पृ0 191, ए0 ई0 पृ0 237

83. उन कलेक्शन आफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स पृ0 89 तथा 141

84. शर्मा दशरथ, राजस्थान थ्रु एजेज, पृ0 9 विप्रः श्रीवत्सगोत्रेअभूत्

85. पाठक, वी0 एस0 'एंशेंट हिस्टोरियंस आफ इण्डिया : अ स्टडी इन हिस्टारिकल बायोग्राफीज पृ0 98 एवं 136

86. ए0 ई0 IX पृ0 75

87. पिंगलाचार्यकृत छन्दशास्त्र, अध्याय 4, श्लोक 19 की टीका

88. उदयपुर प्रशस्ति में इस वंश के संस्थापक उपेन्द्राराज को 'द्विजवर्ग्गरत्न' कहा गया है।

89. पाठक, विशुद्धानन्द, वही पृ0 304

90. प्रोसीडिंग्स, एशियाटिक सोसायटी बेंगाल जि0 पृ0 467, ए0 इ0 जि0 XX पृ0 284 और आगे

91. शर्मा, दशरथ, इहिक्का, जिल्द 16 पृ0 746-7, ओझा, गौ0 ही0 राजपूताने का इतिहास, जिल्द 1, पृ0 72 पर आगे

92. द्रष्टव्य पाद टिप्पणी 98

93. द्रष्टव्य पाद टिप्पणी 47

94. द्रष्टव्य पाद टिप्पणी 48

95. पाठक वि0 श0 वही पृ0 46

96. शांकरभाष्य, वेदान्त सूत्र 13/33

97. सरकार : से0 इंस0 पृ0 375

98. मेधातिथि (मनु 10/81) : 'हेतुवचनाद्व्यवहितवृत्ति : 1' पृ0 339

99. भारूचि (मनु 10/81), अपरे त्वेकपुरूषोत्थानेन राजत्वमाहुः। एवं च प्रत्यनन्तरहेतुवचनादस्य ईषत्प्रत्यवायता गम्यते। क्रमभेदे च प्रत्यवायगौरवम्। पृ0 339

100. आर्यलर के0बी0 आर, सम आस्पेकट्स आूफ हिन्दू व्यू ऑफ लाईफ, एकार्डिग टू धर्म शास्त्र, 129–30

101. चटर्जी हेरम्ब, स्टडीज इन सम एसपेक्ट्स ऍफ संस्काराज इन एन्शियन्ट इण्डिया पृ0 16

102. मनु 2/27

103. पाण्डेय, राजबली, : हिन्दू संस्कार, पृ0 33

104. तंत्रवार्तिक, पृ0 1115

105. काणेः हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द–ए भाग– 1 पृ0 192

106. गौ0ध0सू0 8/14/24

107. मनु 2/16–26–29, 3/1–4

108. याज्ञ0 1/2

109. विष्णु पु0 3/11/112–119

110. विष्णु पु0 1/21/33–34

111. मत्स्य पु0 7/36–45

112. शाख्या0 मृ0सू0 1/20

113. मानसोल्लास 3/12510–52

114. विष्णु पु0 1/13/42

115. आश्व0 गृ0सू0 1/14/1–9

116. आश्वा0 गृ0सू0 1/14/1–9

117. पारस्कर गृ0सू0, उद्धत राजबली पाण्डेय पृ0 216

118. आश्व0 गृ0सू0 1/15/1–4

119. बृहदारण्यकोपनिषद 1/5/2

120. विष्णु पु0 3/10/4–5

121. वही 3/13/1–4

122. बौधायन गृ0सू0 2/1/23

123. आश्वलायन गृ0सू0 1/1/4–10

124. विष्णु पु0 3/10/8

125. मनु0 2/31

126. पारस्कर गृ0सू0 1/17

127. बौधायन गृहशेष सू0 1/11/10

128. बौधायन गृहशेष सू0 2/4, पास्कर, गृ0 सू0 2/1

129. विष्णु पु0 3/13/6

130. अर्थशास्त्र 1/5

131. आप ध0 सू0 1/1/15

132. मनु0 2/169

133. वसिष्ठ स्मृ0 2/3

134. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार (हि0सं0) पृ0 99–110

135. विष्णु पु0 3/10/12

136. वही 4/3/37

137. वही 5/21/19

138. वही 5/21/19

139. मनु0 2/172

140. आश्च0 गृ0सू0 1/19/1–6

141. मनु 2/38–39

142. आपस्तम्ब गृ0 सू0 1/1/2/34–37

143. पारस्कर गृ0 सू0 2/5/25–27

144. पा0 गृ0 सू0 2/2/17–18

145. हरिदत्त वेदालंकार हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास पृ0 9

146. तैत्तरीय ब्रा0 2/2/2/6

147. अष्टाध्यायी 4/1/13

148. ऋग 10/85/36

149. वही 10/85/45

150. विष्णु पु0 5/38/38

151. वही 1/15/8

152. वही 1/15/89

153. विष्णु पु0

154. वही 1/15/96

155. वही 1/21/9

156. वही 4/1/65

157. वही 4/2/66–68

158. वही 4/2/112

159. जैमिनी 6/2/31

160. मनु 6/35

161. वही 6/36

162. प्रभुः हि0 सो0 आ0, पृ0 149–50

163. वेस्टरमार्क, उद्धत, डॉ0 फड्रिक ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ मोरल आइडियाज, भाग 11 पृ0 364

164. अय्यर एल0के0 लेक्वर्सान इथिनोग्राफी, पृ0 97

165. टी0 स्ट्रेन्ज, हिन्दू लॉ, भाग– 1, पृ0 35

166. गोस्वामी, के0जी0 69 पृ0 45

167. कॉ0 इ0 इ0 पृ0 58

168. बौधा0 4/1/11

169. मनु 3/2

170. याज्ञ 1/15

171. आप0 गृ0 सू0 1/5/1

172. याज्ञ0 1/54

173. हर्षचरित पृ0 141

174. मनु 3/6

175. वही 3/7

176. वही 3/8

177. मनु 3/11

178. कामसूत्र 3/1/12

179. मनु 3/10

180. विष्णु पु0 310/16

181. वही 3/16/20

182. वायु पु0 83/12

183. सं0प्र0 पृ0 763

184. पाण्डेय, राजबली वही, पृ0 241

185. विष्णु पु0 5/32/11–30

186. वसिष्ठ धर्म 4/1

187. गौ0 घ0 सू0 4/1

188. विष्णु पु0 4/7/39

189. गौतम धर्म सू0

190. मनु0 3/5

191. मत्स्य पु0 196/37, 40, 51

192. वही 4/2

193. विष्णु पु0 3/10/23

194. याज्ञ0 स्मृ0 1/53

195. मिता0 1/4,

196. विष्णु पु0 4/7/35

197. वही 4/7/12–13

198. वही 4/2/96

199. वही 4/18/23

200. विष्णु पु0 3/15/8

201. विष्णु पु0 4/10/4

202. वायु0 पु0 93/43

203. ब्राह्मण्ड पु0 3/68/43

204. मत्स्य पु0 93/13–14

205. मालविकाग्निमित्रम् उच्वास।

206. फ्लीट का0 इ0 इ0 भग–3, पृ0 152–64

207. वही

208. आर्कयोलोजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया खण्ड 4, पृ0 140

209. एवि0 इं0 खण्ड, 8, पृ0 24

210. मजूमदार कम्बजदेश, अभिलेख नं0 182 पृ0 515

211. वही

212. विष्णु स्मृति 24/17–18

213. मनु 3/29

214. वही 3/24

215. वही 3/26

216. विष्णु पु0 3/10/24

217. आ0 घ0 सू0 2/17

218. वही 2/19

219. बौ0 घ0 सू0 1/11/5

220. आ0 घ0 सू0 2/18

221. मिश्र, जयशंकर प्रा0 भा0 सा0 ई0 पृ0 333

222. ऋग्वेद 5/61/17–19

223. ब्रह्माण्ड पु0 3/74/71

224. मत्स्य 48/62

225. महा0 13/53/17

226. मनु 3/30

227. वही

228. वही

229. याज्ञ0 1/60

230. काणे, ध0 इ0 भाग, 1 पृ0 297

231. मनु 3/31

232. विष्णु पु0 4/7/12–14

233. मनु 9/98

234. पद्मपुराण व्रत खण्ड 24/26

235. महा0 1/121/21–23

236. वही

237. विष्णु पु0 5/26/11

238. मनु 3/34

239. बौ0 ध0 सू0 1/11/20/13, मनु 3/23

240. बौ0 ध0 सू0 1/11/6

241. मनु 3/32

242. नारद, स्त्रीपुंस 40

243. कामसूत्र 3/5/28

244. विष्णु पु0 4/6/35–47

245. वायु पु0 2/15

246. काणे: घ0 इ0, भाग0 1 पृ0 299

247. याज्ञ0 1/61

248. वसिष्ठ घू0 सू0 17/67–68

249. विष्णु पु0 5/28/6

250. वही 3/18/87

251. विष्णु पु0 1/15/103–105

252. विष्णु पु0 1/7/24–27

253. वही 4/2

254. वही 4/12/4

255. वही 4/15/18

256. वही 4/14218–19

257. विष्णु पु0 1/7/24–27

258. आ0 घ0 सू0 1/10/28/19

259. बौ0 घ0 सू0 2/2/9

260. अर्थशास्त्र 9/2

261. विष्णु पु0 4/12–13–14

262. याज्ञ0 1/73

263. माइकेल, जी0डी0रू डिक्शनरी ऑफ सौशियोलॉजी पृ0 134

264. कापाड़िया, के0 एम0: पृ0 53

265. विष्णु पु0 4/20/41

266. वही 1/15/68

267. महा0 1/98/21–30

268. पाण्डेय, राजबली, हि0सं0 पए 296

269. बौ0 गृ0 सू0 1/43

270. विष्णु पु0 3/13/8–9

271. ऐ0 ब्रा0 33/1

272. सायण भाष्य, ऐ0 ब्रा0 2/63

273. काणे हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग1, पृ0 418

274. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द 1 पृ0 68–69

275. प्रभु0 पी0 एच0 हिन्दू शोसल आर्गनाइजेशन पृ0 84

276. वही, पृ0 83

277. थापर, रोमिला: एन्शियन्ट इंडियन्ट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, पृ0 38 पाद टिप्पणी

278. बृह0 स्मृ0 संस्कार खण्ड पृ0 223–24

279. वही 3/52/10

280. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 1/20/11

281. विष्णु पु0 3/9/1

282. मत्स्य पु0 40/2

283. विष्णु पु0 3/9/2–3

284. प्रभु, हि0सो0 आ0 पृ0 143

285. मस्त्य पु0 40/2

286. मनु 6/90

287. मनु 3/78

288. गौतम धर्म स0 3/3

289. विष्णु पु0 3/9/7

290. प्रभु हि0सो0 आ0 प्र0 95

291. गृहिणा .... नयासिनाऽभ्योक्तौ।

292. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/6

293. मनु 6/36

294. महा0 शान्ति पर्व 60/20

295. विष्णु पु0 3/9/10

296. वही

297. मत्स्य पु0

298. मत्स्य पु0 53/16

299. मनु0 3/68–70

300. काणे हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (अग्रेजी संस्करण) जिल्द 2 भाग 2 पृ0 918–19

301. विष्णु पु0 4/10/30

302. वही

303. वही

304. मनु 6/2

305. कुल्लूक भाष्य, मनु0 स्मृ0 3/50

306. वायु पु0 52/23

307. विष्णु पु0 4/2/129

308. ताण्ड्य महाब्राह्मण 14/4/7

309. तैत्तरीय आरण्यक 1/23

310. काणे, वही पं0 917

311. क्षीर स्वामी

312. मत्स्य पु0 61/37

313. विष्णु पु0 3/9/19

314. वही

315. मस्त्य 40/13

316. वायु पु0 8/175

317. मनु 6/59

318. बौधा0 धर्मसूत्र 3/38

319. विष्णु 3/9/20

320. वायु पु0 8/175

321. मनुस्मृति 6/6

322. वूलर, सेक्रे बुक आफ द ईस्ट, भाग 25 पृष्ठ 199 पाद टिप्पणी

323. काणेः हि0 आ0 ध0 ज़िल्द 2, भाग 1 पृ0 421

324. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र बौर्द्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ0 26

325. वही स्टडीज इन ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, द वैदिक बैकग्राउन्ड

326. गौ0 ध0 सू0 3/2

327. आ0ध0 सू0 चत्वार

328. वशिष्ठ ध0 सू0 7/1–2

329. विष्णु पु0 3/9/24

330. वही4 / 2 / 130

331. वही 3 / 18 / 37

332. मस्त्य पु0 40 / 1

333. ऋग्वेद 8 / 3 / 9

334. अथर्वेद 2 / 5 / 3

335. काणे, वही पृ0 419

336. राय0 एस0 एन0 पौ0 ध0 सू0 पृ0 207

337. वही

338. वायु पु0 17 / 1

339. मनु 6 / 30

340. जाबालोपनिषदत–4

341. विष्णु पु0 3 / 10 / 13

342. वही 3 / 10 / 13–15

343. वायु0 .पु0 39 / 5–6

344. विष्णु पु0 3 / 18 / 38

345. वही 3 / 8 / 25

346. विष्णु पु0 3 / 15 / 55–56

347. वही

348. वृ0 उ0 1 / 5 / 16

349. ऋग्वेद 1 / 164 / 66

350. सु0 र0 सं0 पृ0 194
351. विष्णु पु0 1/19/41
352. वही 6/5/62
353. वही 6/5/61
354. महा0 12/339/6
355. 'सा विद्या या विमुक्तये'। द्रष्टव्य अल्टेकर एजूकेशन इन एंशेन्ट इण्डिया, पृ0 4
356. विष्णु पु0 3/10/12
357. वही 5/21/19
358. अपरार्क पृ0 30–31
359. गौ0 घ0 सू0 1/6/12
360. अर्थशास्त्र 1/2
361. रघुवंश 3/7
362. उत्तर राम चरित अंक 2
363. छा0 उ0
364. ब्राह्मण पु0 3/35/13–14
365. विष्णु पु0 3/10/12
366. वही 3/9/1
367. विष्णु पु0 1/2/8–9
368. अल्टेकर वही, पृ0 147
369. विष्णु पु0 2/17/5

370. वायु0 पु0 78/27

371. विष्णु पु0 3/4/1

372. वही 3/4/2

373. वही 3/4/8–9

374. वही 1/5/59–56

375. वही 3/9/2

376. वही 5/21/23

377. वही 2/13/27

378. विष्णु पु0 3/5/1–2

379. वही 3/15/1

380. वही 4/4/99

381. मत्स्य पु0 59/12

382. विष्णु पु0 3/4/10

383. वही 3/4/10

384. वही 1/11/83–85

385. वही 2/4/84

386. वही 3/6/21–24

387. विष्णु पु0 3/9/2

388. वही 1/17/28

389. वही 5/21/23

390. अल्टेकर, वही पृ0 54

391. विष्णु स्मृति 29/4–5

392. विष्णु पु0 3/7/11

393. वायु 103/69

394. विष्णु पु0 2/16/17

395. ब्रह्माण्ड पु0 4/43, 37

396. विष्णु पु0 6/8/11

397. विष्णु पु0 1/17/16–17

398. अल्टेकर वही, पृ0 56

399. आ0 घ0 सू0 1/2/8

400. विष्णु पु0 3/10/13

401. वही 3/9/7

402. वही 6/6/39

403. विष्णु पु0 5/21/24

404. वही 5/21/25

405. वही 5/21/31

406. वही, 1/17/48–50

407. अल्टेकर, वही पृ0 8

408. मनु 2/246

409. विष्णु पु0 1/6/21–22

410. वही 1/6/23–26

411. विष्णु पु0 2/15/12

412. अर्थशास्त्र 2/15

413. महाभाष्य 7/3/69

414. विष्णु पु0 2/15/12

415. वायु पु0 80/48

416. मत्स्य पु0 236/5

417. महाभाष्य, आहितक 1,

418. ऋग्वेद 3/52/7

419. विष्णु पु0 2/15/12

420. द्रष्टव्य पाद टिप्पणी 9

421. मत्स्य पु0 63/19

422. विष्णु पु0 2/15/12

423. मत्स्य पु0 73/6

424. विष्णु पु0 2/6/18

425. मत्स्य पु0 73/6

426. विष्णु पु0 2/15/30

427. मनु 5/14–15

428. विष्णु पु0 3/16/1–2

429. वही 3/16/2

430. वही 3/16/3

431. वही 4/2/15

432. वही 3/16/1–3

433. कूर्म पु0 2/20/40–43

434. अग्नि पु0 117/46–48

435. वही 117/49–50

436. ब्रह्म पु0 220/23–27

437. ब्रह्माण्ड पु0 4/7/67

438. मत्स्य पु0 121/27

439. विष्णु स्मृति 37/33

440. या0 स्मृति 3/256

441. ब्रह्माण्ड पु0 4/28/71

442. रामायण 5/11/5–36

443. श0 ब्रा0 5/1/2–10

444. कात्यायन श्रौतसू. 19/14

445. विष्णु पु0 5/2/85

446. रघुवंश 4/42

447. मथुरा संग्रहालय संख्या यू0 98, 37, 2738

448. लखनऊ संग्रहालय सं0 जी 56

449. वाटर्स : भाग 1 पृ0 178

450. विष्णु पु0 5/20/27

451. वही

452. वही 2/6/22

453. मुद्राराक्षस अंक 3

454. विष्णु पु0 5/18/26

455. वही 5/38/72

456. राय, एस0एन0 पौ0 ध0 स0 पृ0 321

457. याज्ञ0 1/130

458. विष्णु पु0 5/20/27 .... अन्ये च वारमुख्यानामन्ये

459. याज्ञ0 2/292

460. रघुवंश 19/16

461. विष्णु पु0 5/7/46

462. विष्णु पु0 4/4/99

463. वही 4/14/28

464. वही 5/25/7

465. वही 5/20/71–72

466. वही 2/14/32

467. वही 4/14/28–29

468. वही 5/7/45–48

469. वही 5/7/49

470. वही 5/9/12

471. वही 5/9/12

अध्याय – 4

नारी दशा

नारी दशा

विवाह के अनेक उद्देश्यों में शास्त्र-सम्मत पितृ-ऋचु का पूरक आर्ष, उद्देश्य[1] पुत्रों की प्राप्ति भी था अर्थात मातृत्व की प्रतिष्ठापना। अथर्ववेद के एक मंत्र में वीर पुत्रों को पाने की इच्छा व्यक्त की गयी है।[2] माता के रूप में स्त्री का स्थान ऊँचा था। विष्णु पुराण में समस्त संसार के रक्षक को धारण करने वाली देवकी को देवी की उपाधि से अलंकृत किया गया है, जिसमें जगत के भावी मंगल की आशाएं, सन्निहित हैं।[3] मत्स्य पुराण में गर्भ धारण तथा परिपोषण करने के कारण माता के स्थान को श्रेष्ठ वर्णित किया गया है। अतः पतित होने पर भी उसके गौरव का ह्रास नहीं होता । मातृत्व के कारण उसका परित्याग किसी भी दशा में उचित नहीं है।[4]

आलोचित पुराण के काल में, पुत्रों का महत्व पुत्री की तुलना में कहीं अधिक था क्योंकि सामान्य प्रचलित अवधारणा यही थी कि पुत्र की उत्पत्ति से पिता को नरक की प्राप्ति नहीं होती। पुराण के अनुसार पुत्र नामक नरक से अपने पिता का त्राण करने के कारण ही, इसे पुत्र कहा जाता था।[5] विष्णुपुराण में तथा स्मृतियों में एक भी ऐसा स्थल नहीं प्राप्त

होता, जहां पर किसी व्यक्ति ने पुत्री पैदा करने की कामना की हो। मत्स्य पुराण में एक स्थल पर वर्णित हैं कि भद्रराज अश्वपति को सावित्री नामक कन्या, उनकी भक्ति से प्रसन्न, देवी के वरदानोपरान्त मिली थी[6] जिसे अपवाद के सन्निबोधक साक्ष्य के रूप में ग्रहण करना उचित है। पितृप्रधान व्यवस्था में इस प्रकार की भावना स्वाभाविक था। एक अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण स्वयं देवकी से कहते हैं कि उनके द्वारा पूर्व जन्म, पुत्रोत्पत्ति के लिए की गयी प्रार्थना के कारण ही, उन्होने (देवकी) के गर्भ से जन्म लिया। इस प्रकार उनकी कामना पूर्ण हो गयी।[7] विष्णुपुराण में मरिषा नाम की कन्या को रत्न की कोटि में रखा गया है, जिसका संवर्द्धन राजा सोम ने स्वंय किरणों से किया है। सम्राट मान्धाता के आख्यान में पुत्रियों के सुख दुःख के प्रति पिता की कोमल भावनाओं का पता चलता है। ऋषि विवाह से होने के फलस्वरूप, राजा सदा अपनी कन्याओं की कुशलता जानने के लिए व्यग्र रहते थे। उनकी इस उत्कंठा का समधान तब हुआ, जब उन्होने स्वयं अपनी आंखों से, कन्याओं की सुख और समृद्धि को देख लिया।[8] मत्स्य पुराण में शील सम्पन्न कन्या को दस पुत्रों के समान वर्णित किया गया है।[9]

पत्नी के रूप में भी स्त्री सम्मानजनक प्रतीत होती है। पुराण पत्नी को सहधर्मचारिणी की संज्ञा प्रदान करता है, जिसके साथ व्यक्ति को गृहस्थ धर्म का पालन करने के कारण महान फल की प्राप्ति होती है।[10]

सहधर्मिणी का अर्थ धार्मिक कार्यों में समान रूप से सहधर्मिता निभाना है। कोई भी धार्मिक संस्कार पत्नी के बिना नहीं हो सकता था, इसी कारण से पत्नी को सहधर्मिणी कहा जाता था। मत्स्यपुराण में यज्ञीय मण्डप में संपत्नीक प्रवेश करना मंगलदायक वर्णित किया गया है।[11] यही नहीं दानादि के प्रसंग में भी पत्नी की उपस्थिति ही नहीं अपितु सहभागिता आवश्यक थी।[12] वैदिक काल से ही पत्नी के रूप में स्त्री को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। ऋग्वेद के एक सूक्त में पत्नी युक्त होकर अग्नि की आराधना करने का वर्णन प्राप्त होता है।[13] तैत्तरीय ब्राह्मण में पति पत्नी का संयोग सत्कर्म–पूर्ति के कारण विहित है, जिसके कारण वे यज्ञ की धुरी में युक्त होते हैं।[14] पति, पत्नी की धार्मिक क्षेत्र में सहभागिता को देखते हुए ही पाणिनी ने पत्नी शब्द को व्यत्पति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि स्त्री को भी पत्नी भी कहा जाता है, जब वह पति के साथ यज्ञ में संयुक्त होती है।[15] मनु भी पाणिनी का स्वरानुगमन करते हुए कहते हैं कि स्त्री का यज्ञ पति के साथ सफल होता है।[16]

पत्नी का एक रूप भार्या के रूप में भी था, जिसे सम्मानजनक स्थिति नहीं प्राप्त थी। विष्णुपुराण में सुनीति (ध्रुव की माता) स्त्री के इसी स्वरूप को वर्णित करते हुए कहतीं हैं कि अन्य जन्मों में किये गये पुण्य कर्मों के कारण ही सुरूचि को राजा की प्राप्ति है और पुण्यहीना होने से उस

जैसी स्त्री केवल भार्या ही कही जाती है।[17] संस्कृत में भार्या की व्याख्या ''भरणीया इति भार्या'' अर्थात भरण करने योग्य को भार्या कहा जाता है, इस प्रकार से की जा सकती है। श्रीधर ने भी उपर्युक्त श्लोक पर व्याख्या करते हुए, भार्या के इसी रूप को प्रस्तुत किया है।[18] मस्त्यपुराण में भी इसी प्रकार की अवधारणा की प्रतिष्ठापना एक स्थल पर की गयी है, पुराण के अनुसार दास के समान भार्या भी निर्धन है, वह जो कुछ भी प्राप्त करती है, उस पर उसका अधिकार नहीं रहता है।[19]

विष्णुपुराण में यद्यपि 'माँ' के रूप में स्त्री को आदरणीय तथा श्रद्धेय वर्णित किया गया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता हे कि सन्तति पर माता का अधिकार उतना अधिक नहीं माना जाता था, जितना की पिता का। विष्णुपुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि माता तो चमड़े की धौकनी की भांति होती है पुत्र पर तो पिता का अधिकार होता है। पुत्र जिसके द्वारा जन्म ग्रहण करता है, उसी का होता है।[20] यही नहीं एक स्थल पर तारा के द्वारा उसके गर्भ में स्थित बालक के पिता का नाम नहीं बताने के कारण, गर्भस्थ बालक ने अपनी मां को प्रताड़ित करते हुए, उसकी वाणी के समाप्त होने का भय दिया गया।[21]

बाल विवाहः

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में उनकी वैवाहिक स्थिति को एक महत्वपूर्ण कारण माना जा सकता है, जैसे विष्णुपुराण में वर्णित है कि एक व्यक्ति को अपनी वय से तृतीयांश अवस्थापत्र कन्या से विवाह करना चाहिए[22] एक अन्य स्थल में गौरी कन्या से विवाह करने का निर्देश दिया गया है।[23] इस प्रकार बालिका के विवाह से संबंधित दो तथ्य सामने आते हैं पहले के अनुसार कन्या की आयु वर की आयु से एक तिहाई होनी चाहिए अर्थात तीस वर्षीय पुत्र के लिए दस वर्षीय कन्या तथा चौबीस पुरुष के लिए आठ वर्षीय कन्या पुराण की दृष्टि से उचित है। दूसरे ''गौरी'' कन्या से विवाह करने के मत प्रतिष्ठापना। विष्णुपुराण पर किये गये अपने भाष्य में श्रीधर कहते हैं कि आठ वर्ष की गौरी कन्या रूप का चौबीस वर्ष वर के साथ तथा दस वर्ष की कन्या तीस वर्ष के वर के साथ विवाह संस्कार विहित और वैधानिक है।[24] गौरी को कहीं पर सप्त वर्षीय[25] और कहीं पर अष्ट वर्षीय[26] कन्या के रूप में वर्णित किया गया है। छान्दोदय उपनिषद के उषस्तिचाक्रायण की कथा में निर्धनावस्था में फसल खराब होने के कारण, कुरू देश में भ्रमण करने वाली उषस्तिचाक्रायण की पत्नी के लिए ''आटिकी'' शब्द का प्रयोग किया गया है।[27] शंकर ने ''आटिकी'' शब्द का प्रयोग किया गया है।[28] शंकर ने ''आटिकी'' शब्द का अर्थ ऐसी बालिका से किया है, जिसमें यौवन के चिन्ह अभी नहीं प्रकट हुए है।[29]

अनुशासन पर्व में विवाह के संबंध में युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए भीष्म कहते हैं कि तीस वर्ष की आयु वाला पुरुष दस वर्ष की आयु वाली नग्निका की और इक्कीस वर्ष की आयु वाला पुरूष सात वर्ष की कन्या को भार्या रूप में ग्रहण करें।[30] मध्यकालीन व्याख्याकारों ने इस श्लोक को उद्धृत करते हुए दश के स्थान पर षोडश का पाठ किया है। स्मृतियाँ भी कन्या के विवाह के संदर्भ में एक तिहाई वाले सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए प्रतीत होता है। मनु के अनुसार तीस वर्ष की व्यवस्था वाला पति बारह वर्ष की अवस्था वाली सुन्दरी कन्या से विवाह करें अथवा शीघ्र विवाह करने वाला पति चौबीस वर्ष की आयु में आठ वर्ष की कन्या के विवाह को।[31] पाराशर के अनुसार आठ वर्ष की कन्या "गौरी" नौ वर्ष की "रोहिणी" तथा दस वर्ष की "कन्या" होती है। इसके बाद वह रजावला हो जाती है। जो न्या बारह वर्ष कि हो जाने पर भी उसका विवाह नहीं करते, उसके पितर प्रतिमास उसका रक्त पीते हैं। उसके माता-पिता और बड़ा भाई तीनों अनब्याही रजस्वला कन्या को देखकर नरक में जाते हैं, जो ब्राह्मण ऐसी कन्या से शादी करता, वह संभाषण करने तथा पंक्ति में बैठने योग्य नहीं है, उसको वृषलीपति जानना चाहिए।[32] गौतम,[33] यम[34] तथा ब्यास[35] ने भी रजोदर्शन से पूर्व कन्या विवाह का प्राविधान प्रस्तुत किया । बृहस्पति के अनुसार ऐसी कन्या वृषली अर्थात शूद्रा हो जाती है।[36] विष्णु स्मृति भी ऐसी कन्या को

वृषली (शूद्रा) बताते हुए उसके अपहरण में कोई दोष नहीं मानती।[37] विष्णुपुराण के भाष्यकार भी इसी परम्परा का अनुगमन करते हुए, आठ वर्ष की बालिका को गौरी, नौ वर्ष की बालिका को रोहिणी तथा दस वर्ष की बालिका को न्या तथा बारह वर्षीया को रजस्वला कहते हैं। पुनः संवर्त को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि गौरी के कन्यादान से वैकुण्ठ, रोहिणी से ब्रह्मलोक तथा रजस्वला से रौरव नरक पिता को प्राप्त होता है।[38]

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से विवाह जैसी संसीा जुड़ी हुई थी। बाल विवाह का अर्थ था, स्त्रियों की परतंत्रता, जिसके कारण वह अपने जीवन में स्वतंत्र रूप से कोई निर्णय नहीं ले पाती होगी। पुराणों में वर्णित है और स्मृतियों द्वारा समर्थित बाल विवाह निश्चित ही नारी के प्रगति का बाधक था। कुछ विद्वानों ने कन्याओं से कम आयु में विवाह, विभिन्न-विभिन्न तरह से विदेशी विद्वानों के उद्धरणों को प्रस्तुत कर, इसे भविष्य के सुखद जीवन के लिए सहायक वर्णित किया है क्योंकि इस कम अवस्था में विवाह होने के कारण कन्या अपने आपको वर के परिवार के अनुकूल ढाल सकती थी।[39] इस विवाह का समर्थन करते हुए आयंगर महोदय ने भी लिखा है कि रजोदर्शन के पूर्व विवाह किये जाने से चारित्रिक निर्मलता का पूर्ण आश्वासन रहता था तथा योग्य वर के साथ वर के साथ विवाह कर दिये जाने की परिपाटी भी एक कारण थी।[40] विद्वानों द्वारा की

गयी यह आदर्शवादी व्याख्या समस्या के एक ही पक्ष पर प्रकाश डालती है। पहले तो प्रश्न उठता है कि क्या सभी विवाह अनिवार्यतः बाल विवाह होते थे? दूसरा यदि समाज में बाल विवाह का प्रचलन था तो इस सामाजि कुरीति के पीछे कौन से कारण थे।

जहां तक पहले प्रश्न का संबंध है तो उस विषय में पुराण स्वयं ही अपने उद्धरणों तथा आख्यानों से विरोधाभाष को प्रकट कर देते हैं। विष्णुपुराण के अनुसार वाणासुर की पुत्री का विवाह उस समय हुआ, जब उसके हृदय में यौवनोचित भोग की अनिवर्चनीयता जागृत हो चुकी थी।[41] सोम के पुत्र बुध के विषय में विवृत है कि आश्रम के निकट घूतमी हुए कुमारी इला पर अनुरक्त होकर उसके साथ संभोग किया गया तथा उससे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया।[42] राजा रेवत की पुत्री रेवती के विवाह का वृतान्त इस प्रसंग में विचारणीय है : महाराज अपनी राजकुमारी को लेकर उसके योग्य वर को ढूढ़ने हेतु ब्रह्मा के पास गए। उस समय वहां पर हा हा और हू हू नाम गन्धर्व अतितान नामक दिव्यमान कर रहे थे। उस विलक्षण ज्ञान के श्रवण में अनेक युगों का परिवर्तन भी मुहूर्त पर प्रतीत हुआ। गान की समाप्ति पर राजा ने अपने युग के अभिमत वरों के नाम कहे जाने पर ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि इन वरों में से अब पृथ्वी किसी के पुत्र पौत्रादि संतान भी नहीं है क्योंकि अब कलियुग का आरम्भ होने जा रहा है।

पूर्वकालीन कुशस्थली अब द्वारकापुरी हो गयी है और वही विष्णु का बलदेव नामक अंश विराजमान है रेवत को कन्या पत्नी रूप में बलराम को दे देने का परामर्थ ब्रह्मा ने दिया। बलदेव ने भी रेवती को अपने आकार का बनाकर उकसे साथ विधि पूर्वक विवाह कर लिया।[43] सौरभि ऋषि के द्वारा मान्धाता की पचास कन्याओं से विवाह, बाल विवाह की ओर नहीं अपितु यौवनावस्था के विवाह को ही प्रकट करता है, मान्धाता की कन्याओं ने ऋषि को पसन्द कर उनसे विवाह किया था।[44] ऐसी स्थिति में बाल विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसी संदर्भ में मान्धाता का कथन उल्लेखनीय है। नृप के अनुसार उसके कुल में कन्याएं स्वयं वरों को पसन्द करती हैं।[45] अपने वर का चयन, एक युवा कन्या ही कर सकती है।

पौराणिक समाज में बाल विवाह के प्रतिष्ठापना के पीछे कई एक कारण क्रियाशील थे जिनमें से प्रमुख रूप से तीन कारण प्रमुख प्रतीत होते हैं। उन कारणों में से प्रथम कारण तो कृषि का विस्तार तथा उसी से जुड़ी हुई, दूसरी नागरिक क्रान्ति है। गृह्मा सूत्रों और धर्म सूत्रों ने सर्वप्रथम बाल विवाह के पक्ष में तर्क देना शुरू किया, उनका युग महानपदों का युग था। ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था को नयी नागरिक क्रांति ने काफी आघात पहुचाया। नयी व्यवस्था के आरम्भ से पुरातन व्यवस्था की मान्यताओं को ठेस पहुंचाना स्वाभाविक था। इस नयी व्यवस्था की संभावनाओं को बुद्ध नयी

दिशा दे रहे थे। वह पुरातन का परित्याग कर नये को आगे बढ़कर अपनाने को कह रहे थें। बुद्ध की शिक्षाओं को सुनने वाला ग्रामीण वर्ग नहीं था, अपितु शहरी वर्ग था जो कृषकीय व्यवस्था से नाता तोड़ चुका था।[46] गौतम बुद्ध जैसे विचारक नयी व्यवस्था का प्रतिनिधत्व कर रहे थे और धर्म सूत्र तथा गृह्य सूत्र पुरातन व्यवस्था का, फलतः नयी व्यवस्था के प्रभाव से बचाने के उद्देश्य से सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता ने जन्म लेना शुरू कि और इस विचार को बाल विवाह जैसे आदर्शों और विचारों के माध्यम से प्रकट किया जाने लगा।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार ने बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियों को अपनी ओर आकर्षित किया और एक बहुत बड़ी संख्या में वे भिक्षुणी बन गयी। मथुरा के अनेक ऐसे अभिलेख प्राप्त है, जिससे ज्ञात होता है कि बौद्ध तथा जैन संघो में स्त्रों की संख्या काफी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन संघा ने, कुषाण युग में साधारण उपासकों के साथ ही साथ, भिक्षु तथा भिक्षुणियों का समान रूप से प्रवेश था।[47] बाद में अविवाहित स्त्रियां भी प्रवज्या ग्रहण करने लगी इस प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए स्मृतिकारों ने विवाह योग्य कन्याओं की आयु कम दी होगी– इस प्रकार की संभावना बाल विवाह के संदर्भ में की जा सकती है। यम जैसे स्मृतिकारों ने इसीलिए इस विधान का प्रतिपादन किया कि सन्यास से स्त्रियों

को मोक्ष प्राप्त नहीं होता, अपितु गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों को निभा कर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।[48]

तीसरा कारण विदेशियों का आक्रमण प्रतीत होता है जो दूसरी सदी ई0पू0 से पूर्वमध्यकाल तक होता रहा। आक्रमणकारियों से यूनानीं-वाख्वी, शकपह्लव, कुषाण तथा हूण आदि प्रमुख थे। जिन्होने न केवल भारत पर आक्रमण किया अपितु भारत में बस भी गये और यहां के निवासियों के साथ, उन्होने रक्त संबंध भी स्थापित किए। इन आक्रमणों ने भी इस प्रथा को बढ़ावा दिया।[49] वैदिक कालीन विदुषी महिलाओं का युग समाप्त हो चुका था और शिक्षा के अभाव के कारण महिलाओं द्वारा इस प्रथा का कभी विरोध करने का प्रयास किया गया, ऐसा उदाहरण प्रतीत नहीं होता है।

स्त्री शिक्षाः

विष्णुपुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। डॉ0 सिद्धेश्वरी नारायण राय ने पुराणों में वर्णित स्त्री शिक्षा का वर्गीकरण दो वर्गों में किया है (1) आध्यात्मिक एवं (2) व्यावहारिक[50] । आध्यात्मिक शिक्षा, धार्मिक विधि विधानों तथा धार्मिक ग्रन्थों से संबंधित थी जबकि व्यावहारिक शिक्षा में नृत्य, गायन, वादन तथा चित्रकला ऐसे विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विष्णुपुराण में मैना और धारिणी को ब्रह्मवादिनी,

योगिनी तथ उत्तम ज्ञान से सम्पन्न बताया गया है।[51] वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में भी इन दोनों कन्याओं को ब्रह्मवादिनी और योगिनी की संज्ञा दी है।[52] ब्रह्माण्ड पुराण में एक अन्य स्थल पर बृहस्पति की भागिनी को "ब्रह्मवादिनी" के रूप में वर्णित किया गया है, जिसने योग में सिद्धि प्राप्त की थी तथा आसक्ति रहित भाव से समस्त पृथ्वी का प्रमण किया था।[53] वायुपुराण में भी बृहस्पति की भागिनी "ब्रह्मवादिनी" कहा गया है।[54] वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्ग थे सद्योवधू और ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू की श्रेणी में वो छात्राएं आती थी जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेद मंत्रों तथा याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थी तथा ब्रह्मवादिनी की श्रेणी में वो कन्याएं आती थी जो शिक्षा पूर्ण करने में अपना जीवन लगा देती थी।[55] "पाणिनीया" आपशति आचार्य के पाणिनी-व्याकरण का अध्ययन करने वाली "आपिशाला"[56] एवं काशकृस्ति आचार्य की मीमांसा का अध्ययन करने वाली स्त्री "काशकृत्वा"[57] कहलाती थी।[58]

पौराणिक साहित्य ने ब्रह्मवादिनियों का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि वैदिक कालीन शिक्षा की परम्परा पौराणिक काल में बनी हुई थी। मत्स्यपुराण में संतति[59] और शतरूपा[60] का भी उल्लेख ब्रह्मवादिनी के रूप में हुआ है। इसी प्रकार पीवरी[61] का उल्लेख मत्स्यपुराणमें एक तपस्विनी के रूप में हुआ है, जिससे सुयोग्य पति पाने के लिए दारूण तपस्या की

थी। वायु पुराण में धर्मव्रता के प्रसंग में भी वर्णित है कि उसने भी उत्तम पति की प्राप्ति हेतु अपने पिता के आदेश से तपस्या की थी।[62]

स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में अल्टेकर ने यह मत व्यक्त किया है कि बाल्यकाल और प्रदानकाल एक अन्तर्वती अवधि में ब्रह्मचर्य व्रत अर्थात ब्रह्म विद्या के विकास के अनुपालन द्वारा वे अपने जीवन की पूर्णपीठिका को सुयोग्य बनाती थीं।[63] अल्टेकर ने हारीत को उद्धृत करते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि तपस्या के अतिरिक्त बालिकाएं वेदाध्ययन भी करती थीं, यह कार्य उनके घर पर ही सम्पन्न होता था।[64] आलोकित युग में स्त्रियों को वस्तुतः वेदों की शिक्षा द्विजातियों को उपनयन संस्कार के पश्चात ही दी जाती थी और युग की स्मृतियां तथा पौराणिक आख्यानों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों के उपनयन संस्कार पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। विष्णु धर्म सूत्र के अनुसार (जात, कर्म आदि) संस्कार मंत्रो के बिना होने चाहिए, स्त्रियों का केवल विवाह संस्कार ही मंत्रों के द्वारा हो सकता है।[65] मनु के अनुसार भी शरीर की शुद्धि के लिए उचित समय, क्रम और विधि से पवित्र मंत्रों का उच्चारण किए बिना ही स्त्रियों के संस्कार होने चाहिए।[66] इसका कारण मनु स्त्रियों को असत्य की भांति अशुभ बताते हैं।[67] याज्ञवल्क्य भी मनु का अनुगमन करते हुए विवाह को छोड़कर कन्याओं के

अन्य संस्कारों मंत्रों द्वारा उच्चारित करके, नहीं करने का विधान प्रस्तुत करते हैं।[68]

इसमें संदेह नही कि आरम्भिक गृह्यसूत्रों के काल तक स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था और उन्हे वेद पढ़ने का अधिकार प्राप्त था। गोभिल गृहयसूत्र[69] में वर्णित है कि वर वस्त्रों से ढकी हुई और यज्ञोपवीत पहनी हुई वधू को ले जाता है। इससे प्रतीत होता है कि स्त्रियां उपनयन के संस्कार चिन्ह के रूप में यज्ञोपवीत धारण करती थी। काठक गृहयसूत्र में हविष्य कल्प के वर्णन में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि कन्या का ब्रह्मचारी जीवन (विद्यार्थी जीवन) दस अथवा बारह वर्षो का होना चाहिए।[70] आश्वलायन गृह्यसूत्र में समावर्तन संस्कार के संदर्भ में स्त्रियों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार ऐसी कन्याओं के विषय में जानकारी रखते थे, जिनका वेदों की अध्ययन समाप्ति पर समावर्तन होता था।[71] समावर्तन तभी संभव था जबकि उपनयन हो। स्मृति चंद्रिंका मं उद्धत हारीति के अनुसार, दो प्रकार की स्त्रियां होती हैंः ब्रह्मवादिनी (ब्रह्मविद्या पढ़ने वाली) और सद्योवधू (जो थोड़े अध्ययन के उपरान्त) विवाह करती हैं। और घर में भिक्षा मांगती है। किन्तु सद्योवधू स्त्रियों का उपनयन संस्कार मात्र किया जाए और तदुपरान्त उनका विवाह।[72] उपर्युक्त ग्रन्थ में ही दूसरा उदाहरण यम का दिया गया है, जिसके अनुसार प्राचीन काल में कन्याओं

को गूं के बंधन से परिवेष्टित किया जाता था, उन्हें वेद पढ़ाया जाता था और वे सावित्री का उच्चारण करती थीं। वे किसी अपरिचित से नहीं अपितु अपने चाचा अथवा भाई से पढ़ती थी और घर में ही भीख मांगती थी। उनके लिए अजिन (पशुचर्म) वल्कल और जटा यह सब वर्जित था।[73]

विधवा की स्थितिः

विष्णुपुराण में विधवा से सम्बन्धित उद्धरणों से पता चलता है कि विधवाओं को समाज में सम्मानजनक स्थान नहीं प्राप्त था। विष्णुपुराण में मरिषा की कथा प्राप्त होती है जो विधवा हो गयी थी। पुराण मरिषा को मन्दभागिनी विशेषण के साथ उसका वर्णन करते हुए, उनके जन्म को विफल बताया है।[74] वस्तुतः पुरूषों का शौर्य जिस तरह उनका सर्वोत्कृष्ट महान गुण था वहीं स्त्री का वैधव्य, स्त्रियों की सबसे बड़ा अवगुण समझा जाता था। विष्णुपुराण में वासुदेव के शौर्य के वर्णन मे जगत को प्रकल्पित करना था शत्रु-स्त्रियों को विधवा बनाना एक ही कोटि में रखा गया है।[75] ब्रह्माण्ड पुराण में रेणुका की कथा को वर्णित करते हुए कहा गया है कि वैधव्य का दुख इस प्रकार का है जो असह्य है।[76] एक स्थल पर मत्स्य पुराण में विधवा को दीन और अनाथों की श्रेणी में रखते हुए निर्देशित किया गया है कि राजा इनकी रक्षा करे।[77]

पुराणों के अतिरिक्त साहित्यिक साक्ष्यों से भी विधवाओं की दयनीय स्थिति का ही परिज्ञान होता है। स्वप्रवासवदत्ता में वर्णित है कि जिस समय उदयन मगधराज के अंतःपुर में प्रवेश कर रहे थे, वहां से विधवाओं को हटा दिया गया गया था।[78] वृद्धहारीत के अनुसार विधवा को बाल संवारना छोड़ देना चाहिए पान सुगंधित वस्तुओं, फूल, आभूषणों और रंगीन वस्त्रों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। अंजन नहीं लगाना चाहिए। इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। सदाहरि की पूजा करनी चाहिए। राजा को विधवा की सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए। विधवा को रात्रि कुशा की चटाई पर सोना चाहिए। यदि विधवा संयम का जीवन न बिताए तो राजा उसे पति के मकान से निकाल सकता था।[79] ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित युग में विधवा को अमंगल का प्रतीक समझा जाने लगा था। यही नहीं उसके जीवन पर इतना अधिक नियंत्रण लगा दिया गया था कि विधवा जीवित रहने की अपेक्षा, अपना जीवन समाप्त करना ही उचित समझ समझती थी।

सतीः

विष्णुपुराण में सती प्रथा से संबंधित अनेक स्थल प्राप्त होते हैं जिससे पता चलता है कि इस प्रथा का प्रचलन समाज में काफी बढ़ गया था। विष्णुपुराण में निरूपित है कि श्रीकृष्ण की मृत्यु के उपरान्त रूक्मिणी

सहित आठों प्रमुख रानियों ने अग्नि में प्रवेश किया था।[80] इसी प्रकार रेवती ने बलराम के शरीर को आंलिगन कर, उनके अंगस्पर्श के कारण शीतलीकृत अग्नि की शरण ली थी।[81] विष्णुपुराण में ही एक अन्य स्थल पर विवेचित है कि काशीराज की कन्या ने अपने पति को अगले जन्म से पुनः प्राप्त करने की इच्छा से सती का अनुगमन किया था।[82] सत्रजित के मृत्यु के पश्चात्, शैव्या ने भी चितारूढ़ होकर अपने पति का अनुगमन किया था।[83] एक अन्य स्थल पर विवृत है कि बाहु के वृद्धावस्था के कारण, और्व ऋषि के आश्रम के समीप प्राणोत्सर्ग करने के कारण, उसकी पटरानी ने चिता बनाकर, उस पर पति का शव स्थापित कर उसके साथ होने का निश्चय किया।[84] परन्तु उसके गर्भवती होने के कारण, महर्षि ने उसे ऐसा करने से रोक दिया।[85] ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री के गर्भवती होने पर, उसका सती होना उचित नहीं समझा जाता था।

विष्णुपुराण के अतिरिक्त अन्य साक्ष्यों से भी समाज में सती प्रथा के व्यापक प्रचलन का पता चलता है। सती प्रथा प्रचलन ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्य सूत्रों के काल तक नहीं था। अल्टेकर का इस विषय में मत है कि 400 ई0 पू0 तक इस प्रथा का आर्यों में प्रचलन नहीं हुआ था।[86] रामायण और महाभारत में जो उदाहरण प्राप्त होते हैं वे बाद के प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। महाभारत में सती से संबंधित उदाहरण प्राप्त तो होते हैं यथा

महाराज पाण्डु के मृत होने पर उनकी पत्नी ने अन्वारोहण किया था,[87] एक अन्य स्थल पर वसुदेव के करने के उपरान्त उनकी चार पत्नियां, देवकी, माद्री, रोहिणी, और मदिरा ने सहमरण किया था।[88] परन्तु इससे ज्यादा उन स्थलों के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहाँ सती का पालन नहीं किया गया था। इस काल में सती का एक प्रथा के रूप में स्थापित न होने का प्रचलन प्रमाण, महाबीर और गौतम बुद्ध जैसे समाज सुधारकों द्वारा इसके विरूद्ध अभियान नहीं चलाया जाया जाना है। यदि इन दोनों महापुरूषों के काल में यह प्रथा प्रचलित रहती तो ये दोनों इस प्रथा के विरूद्ध अवश्य ही उठ खड़े हुए होते।

ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी शती ई0 से सती की प्रथा लोकप्रिय होने लगी थी। कालिदास[89] शूद्रक[90] ओर वात्स्यायन[91] ओर वात्स्यायन[92] के ग्रन्थों में इस प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है। सती प्रथा के प्रचलन का सर्वप्रथम शिलालेखीय एरण के 510 ई0 के अभिलेख से प्राप्त होता है। अभिलेख में गोपराज की पत्नी का गुणमान किया गया है, जिसने मृत पति का अग्नि राशि में अनुगमन किया था।[93] इसी प्रकार चंगुराज के स्तम्भ लेख में वर्णित है कि नृप पत्नी राज्यवती, पुत्र वात्सल्य की अपेक्षा कर दिवगंत पति के साथ हुई थी।[94] हर्ष चरित में वर्णित है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पूर्व यशोमती ने पुत्र का आलिंगन कर और उसके सिर को सूंघ

कर अन्तःपुर से पैदल ही निकलकर, पुरवासियों के आर्तनाद से प्रतिध्वनित दिशाओं से मानो रोके जाने पर भी सरस्वती के तट पर गयीं। वहां स्त्री स्वभाव के कारण कातर एवं खिले हुए रक्त कमल के पुंजों की भांति अपने दृष्टिपातों अर्चना करके अग्नि में उसी प्रकाश प्रवेश कर गयी जिस प्रकार भगवान सूर्य से चन्द्रमा की मूर्ति।[95] संभवतः इस युग तक ऐसी मान्यता प्रतिष्ठापित हो गयी थी कि पति के मृत्यु के पहले ही प्राणोत्सर्ग मंगलदायक होता है। यही कारण है कि यशोमती ने सधवा ही मरना पसंद किया।

धीरे-धीरे समाज में यह मान्यता बलवती हो गयी कि वैधव्य के दुख को झेलने के अपेक्षानुकूल सती होना ही श्रेयस्कर है। वृहस्पति के अनुसार वैधव्य के ब्रह्मचर्य की स्थिति से सती होना श्रेयस्कर था।[96] व्यास ने सती धर्म को विधवा के जीवन के सर्वोत्तम विकल्प के रूप में स्वीकार किया है।[97] दक्ष स्मृति में विवृत है कि पति के मर जाने पर जो नारी उसकी चिता में प्रवेश कर जाती है, वह पवित्र आचार वाली होती है, ओर वह स्वर्ग लोक की महानता को प्राप्त होती है।[98] इसी प्रसंग में पुनः वर्णित है कि जिस प्रकार सपेरा सांप को बिल से बलपूर्वक निकाल लेता है, उसी प्रकार वह स्त्री अगले जन्म में अपने पति को प्राप्त करके उसके साथ आनंद में रहती है।[99] सती की प्रथा को स्मृतियों तथा पुराणों ने इस तरह से महिमा मण्डित करके समाज के समक्ष इस रूप में प्रस्तुत किया है कि

इसका अनुगमन कर सती अपने पति को ब्रह्म हत्या जैसे पापों के दोष से मुक्त करा लेता है।[100] इसी प्रकार ब्रह्म पुराण में भी इस प्रथा को महिमा मण्डित करके प्रस्तुत किया गया है कि सती प्रथा का अनुगमन करने पर, स्त्रियों के शरीर में जितने अधिक रोम होते हैं, उतने वर्षों तक वह स्वर्ग में निवास करती है।[101]

पदम् पुराण में सृष्टि खण्ड में वर्णित है कि ब्राह्मण स्त्री को सती का पालन नहीं करना चाहिए, पुराण के अनुसार यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मणी को चिता में चढ़ने के लिए सहायता करता है तो उसे ब्रह्म हत्या का पाप लगता है।[102] ब्राह्मणों में सती प्रथा के संबंध में अल्टेकर का मत है कि अत्यंत सीमित स्तर पर इस प्रथा का प्रारम्भ, ब्राह्मणों में लगभग 1000 ई0 के आसपास हुआ होगा।[103] विष्णुपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण तथा दश कुमार चरित में प्राप्त साक्ष्यों के आलोक में, अल्टेकर के मत का अनुमोदन करना, कठिन प्रतीत होता है। ब्राह्मण वर्ग में यह प्रथा, यदि हम विष्णुपुराण के संस्कारित संस्करण को पूर्वमध्यकाल का मानते हैं, तो मानना पड़ेगा कि यह प्रथा, पूर्व मध्यकाल से ही आरम्भ हो गयी थी। परन्तु इसका प्रचलन एक सीमित स्तर पर रहा होगा। व्यास, ब्राह्मणी के संदर्भ में पति की मृत्यु के पश्चात् दोनों ही प्रकार की व्यवस्था विधान करते हैं, या तो वह पति को लेकर, अग्नि में प्रवेश करे अथवा ऐसा न कर सकने की स्थिति में केशों

को सजाना छोड़कर तपस्या से शरीर को सुखावे।[104] मिताक्षरा भी ब्राह्मणी स्त्री के साथ-साथ चांडाल तक की सभी स्त्रियों के लिए, जो गर्भवती न हों और शिशुधर्म बाली न हों, सती को साधारण धर्म के रूप में वर्णित करता है।[105]

यद्यपि कि मध्यकाल की ओर क्रमशः अग्रसारित होते होते, सती की व्याख्या बढ़ती चली गयी और सामाजिक व्यवस्थाओं की मान्यता इसको प्राप्त होती चली गयी फिर भी कुछ व्यक्तियों ने इस प्रथा का विरोध किया। मेद्यातिथि ने इस प्रथा का प्रबल विरोध करते हुए कहा है कि यद्यपि अंगिरा ने सती प्रथा के अनुसरण को अनुमति दी है तथापि सही अर्थों में यह आत्महत्या है।[106] बाण ने भी सती को आत्महत्या के तुल्य बताते हुए इससे उत्पन्न पाप के कारण स्त्री के नरक गमन का वर्णन किया है।[107] अपरार्क, विराट का यह कथन उद्धृत करते हैं कि जीवित रहने से विधवा पति का हित कर सकती है किन्तु सती बनने से वह आत्महत्या करती है।[108] परन्तु सती प्रथा में उठे यह विरोध के स्वर, इस प्रथा के प्रसार को रोक नहीं पाए और धीरे-धीरे इस प्रथा का प्रसार बढ़ता ही चला गया। सती प्रथा के प्रचलन के पीछे आरम्भ में त्याग और शौर्य की भावना क्रियाशील प्रतीत होती हैं क्योंकि आरम्भ में यह क्षत्रियों से जुड़ी थी। रणभूमि में शहीद हुए वीरों के सम्मानार्थ और कुछ अर्थों में अपने प्रेम तथा गौरवान्वित करने की भावना

से इस प्रथा को बढ़ावा दिया होगा। बाद में जब महिलाओं की स्थिति में पतन हो गया तो विधवा पर अनेक प्रकार के नियंत्रणों को लगाकर, उसे तिरस्कार पूर्ण जीवन जीने पर विवश कर दिया गया। वैधव्य के कष्टपूर्ण तथा उपेक्षित जीवन को बिताने के अपेक्षानुकूल स्त्रियों ने अपने आप को अग्नि को समर्पित कर देना, कहीं अच्छा समझा होगा। सती प्रथा के प्रसार के एक स्थल ऐसा भी आया जब इसे सामाजिक प्रतिष्ठा और त्याग से जोड़कर, इसे महिमा मण्डित कर दिया गया, फलतः इसका क्रमशः विकास होता चला गया। एक समय स्त्री को उसके सम्पत्ति विषयक अधिकारों से वंचित करने के उद्देश्य से भी इस प्रथा को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। दायभाग का कथन है कि बहुधा सम्पत्ति में से स्त्री को हिंसा न देने के उददेश्य से लोभ वश वश उसे सती होने के लिए विवश कर दिया जाता था।[109]

स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारः

विष्णुपुराण स्त्री के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों के संदर्भ में ज्यादा जागरूक और प्रगतिशील प्रतीत होता है। विष्णुपुराण में स्यमंतक मणि के विषय में वर्णित है कि यह मणि सत्रजित को सूर्य से मिली थी।[110] सत्यजितु के मृत्यु के उपरान्त यह कलह का कारण सिद्ध हुई।[111] किन्तु जब मणि के अधिकारी का निर्णय किया गया तो उस पर सत्यजित की पुत्री सत्यभामा

का अधिकार माना गया। इस प्रंसंग में वर्णित है कि समस्त पुराण में सत्यभामा के किसी भाई का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। स्त्री के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों को दूसरा उल्लेख इक्ष्वाकु के पुत्री के संबंध में प्रतीत होता है। इस प्रसंग में विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में उल्लिखित है कि इक्ष्वाकु के अरू सभी पुत्रों को राज्य का उत्तराधिकार मिला पर कन्या होने के नाते सुद्युम्न को इस अधिकार से वंचित रखा गया था।[112] इस प्रकार स्त्री के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों विषय में दो प्रकार की अवधारणा सामने आती है पहली अवधारणा के अनुसार स्त्री को पैतृक सम्पत्ति का अधिकार उस स्थिति में प्राप्त था, जब इसका कोई भाई नहीं होता था। दूसरी अवधारणा अनुसार भाईयों के रहते पैतृक सम्पत्ति में स्त्री को कोई हिस्सा नहीं प्राप्त होता था। वैदिक काल में पुत्र के रहते हुए भी कन्या का सम्पत्ति में अधिकार, को मान्यता प्राप्त थी। आपस्तम्ब के अनुसार उत्तराधिकारी के अभाव में जब सापिण्ड या गुरू या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है, फिर भी उसने पुत्री को उत्तराधिकारी के रूप में पुत्री का नाम कहीं नहीं लिया है।[113]

इस प्रकार विष्णुपुराण में प्रतिपादित, पुत्री के सम्पत्ति विषय उत्तराधिकार, मनु आदि स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था से पूरी तरह अलग है। विष्णुपुराण की स्त्री के उत्तराधिकार संबंधी अवधारणा महाभारत

के प्रतिपादित आदर्शों के अनुकूल है। महाभारत में उसके स्वत्व को पुत्र के समकक्ष ही स्वीकार किया गया है।[114] तथा यह भी वर्णित है कि यदि अभ्रातृका को पूरी सम्पत्ति नहीं मिलती तो आधी अवश्य ही मिलनी चाहिए।[115] कौटिल्य ने भी अभ्रातृका कन्या को उत्तराधिकारी का पद प्रदान किया है चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।[116] याज्ञवल्क्य ने पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री को ही उत्तराधिकारिणी माना है।[117] वृहस्पति और नारद ने पुत्र और पुत्री को बराबर मानते हुए,सके सम्पत्ति विषयक अधिकारों को अपनी मान्यता प्रदान की है।[118] कात्यायन का मत विष्णुपुराण की मान्यता के अनुरूप है, उन्होने पुत्र के अभाव में पुत्री को उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया है।[119] इस प्रकार विष्णुपुराण में प्रतिपादित स्त्री के सम्पत्ति विषयक उत्तराधिकार की अवधारणा स्मार्त परम्परा के अनुकूल है परन्तु वह विष्णु[120] और नारद[121] के उस उदारवादी परम्परा का अनुगमन नहीं करती है जहां पर भाई के रहते हुए भी पैतृक सम्पत्ति पर बहन के अधिकार का समर्थन किया गया है। परन्तु यहां पर उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थ स्त्री द्वारा अपने हिस्से को ले जाने का अनुमोदन नहीं करता।

बहुविवाहः

बहु विवाह[122] और अन्तःपुर की प्रथा ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को और भी कमजोर बनाया। बहु विवाह की प्रथा तो वैदिक काल से ही समाज में प्रचलित थी। ऋग्वेद में एक स्थल पर विवृत है कि इन्द्र ने सभी महलों को अधिकार में उसी प्रकार ले लिया जिस प्रकार एक पति अपनी पत्नियों को अधिकार में रखता है।[123] ग्रामीण संस्कृत से नागरीय संस्कृति, गणराज्यों से साम्राज्यों के विकास ने इस प्रथा को बहुत अधिक बढ़ावा प्रदान किया, इसकी संभावना की जा सकती है। परन्तु बहु विवाह की प्रवृत्ति को सामन्तीय तत्वों ने सबसे अधिक बढ़ावा दिया। विष्णुपुराण में तो ऐसे ऋषियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होने पचास तक विवाह किये थे।[124] बहु विवाह को व्यापकता का उपर्युक्त उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है।

बाण ने अन्तःपुर की समस्त प्रतिहारियों की अध्यक्षा को ''महत्तरिका'' कहा है।[125] महत्तरिका का पद अंन्तःपुर में अतिविशिष्ट माना जाता था। उसके गौरव का कुछ अनुमान कालिदास के वर्णन से किया जा सकता है। उसे दौवारिको[126] प्रतिहाररक्षी[127] द्वार पालिका (राजकुल के द्वारा की प्रधानाध्यक्षा था वहां की स्थिति के पूरे दायित्व की निर्वाहिका), भूर्मी

नियुक्ता[128] (प्रतीहार पदवी पर नियुक्त), राज्य शासन से अधिकृत किया गया है। अंन्तःपुर की सर्वविधि रक्षा का भार उसी पर था, जैसा सुद्धांतरक्षी उसके इस विशेषण से सूचित होता है। उसे जन्या भी कहा गया है[129] जिसका पर्याय मातृसखी था अर्थात कुमारी के लिए उसकी माता के लिए आदरणीया होती थी। किन्तु जन्म से साथ रहने के कारण वह कुमारी से इतना घुल मिल जाती थी कि वह आपस में हास परिहास कर सकती थी।[130] उसे वेत्रग्रहण में नियुक्त[131] या वेत्रभूत सखी[132] भी कहा गया है। वेत्र उस अधिकार का प्रतीत थी जिसे अन्तःपुर के लिए राजदण्ड का प्रतिनिधि माना जाता था। शुद्धान्त या अन्तःपुर के भीतर कोई भी व्यक्ति महत्तरिका की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता था।[133]

इसके अतिरिक्त अन्तःपुर में, वृद्ध कंचुकी तथा बौनों को भी नियुक्त किया जाता था। कादम्बरी में वर्णित है कि अन्तःपुर के मध्यभाग में पुराण पुरूष अर्थात वृद्ध कंचुकी और वामन पुरूष या बौने विविध कार्यों के लिए नियुक्त थे।[134] रत्नावली में भी नंपुसकों को अन्तःपुर के रक्षकों में से एक वर्णित किया गया है। नंपुसक के अतिरिक्त वामन पुरूष (बौने), कंचुकी तथा किरातों को अन्तःपुर के रक्षकों के रूप में वर्णित किया गया है।[135] राजा तथा सामन्तगण युद्ध में जीती हुई, शत्रुओं की कन्याओं तथा स्त्रियों को लाकर अन्तःपुर में रखते थे। विष्णुपुराण में नकासुर के संबंध में

विवृत है कि उसने देवता, सिद्ध, असुर तथा राजा आदि की कन्याओं को बलात्कार से लाकर अन्तःपुर में बन्द रखा था।[136] आलोचित काल में यह अवधारणा बन थी कि युद्ध में विजयी राजा का पराजित राजा के सभी वस्तुओं पर अधिकार होता था। यहां तक कि अन्तःपुर पर भी। सामान्यता युद्ध में लूटी गयी सम्पत्ति यथा हाथी, घोड़े आदि का बटवारा बन्धु बान्धवों और अधिकारियों में हो जाता था परन्तु अन्तःपुर की स्त्रियों को राजा अपने पास ही रखता था। विष्णु पुराण में वर्णित है कि महामति श्रीकृष्ण ने सेवकों द्वारा लाए हुए हाथी, घोड़ा आदि धन को अपने बन्धु-बान्धवों में बांट दिया था और नरकासुर की वरण की गयी कन्याओं को स्वयं ले लिया था।[137] तथा शुभ समय पर श्रीकृष्ण ने एक ही समय पृथक-पृथक भवनों में उन सबके साथ विधिवत् धर्मपूर्वक पाणिग्रहण किया।[138]

नियोगः

नियोग प्रथा में स्त्री, पुत्रोत्पत्ति के लिए, अन्य पुरुष से संबंध स्थापित करती थी। पतिविहीन नारी यदि पुत्र की अभिलाषा रखे तो अपने देवर से प्राप्त कर सकती थी। किन्तु उसे गुरुजनों से आज्ञा लेनी चाहिए। यदि देवर न हो तो वह सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर या अपनी जाति वाले से पुत्र प्राप्त कर सकती है।[139] इस प्रथा द्वारा स्त्री दो से अधिक पुत्र नहीं प्राप्त

कर सकती थी। पति के जीवित रहने पर भी नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त किया जा सकता था।[140] काणे के नियोग के लिए निम्नलिखित दशाओं को आवश्यक बताया गया है:

(1) जीवित या मृत पति पुत्रहीन होना चाहिए (2) कुल के गुरूजनों द्वारा ही निर्णीत पद्धति से पति के लिए पुत्र को उत्पन्न करने के लिए पति को नियोजित करना चाहिए (3) नियोजित पुरूष को पति का भाई (देवर), सापिण्ड या पति का सगोत्र होना चाहिए (4) नियोजित पुरूष या नियोजित विधवा में कामुकता का पूर्ण अभाव एवं कर्तव्य भार का ज्ञान होना चाहिए (5) नियोजित पुरूष के शरीर पर घृत या तेल से लेप होना चाहिए, न तो उसे बोलना चाहिए, न चुम्बन लेना चाहिए और न तो स्त्री के साथ किसी भी प्रकार की रति–क्रीड़ा में संलग्न होना चाहिए (6) यह सम्बन्ध केवल पुत्र उत्पन्न होने तक ही रहना चाहिए (7) नियुक्त विधवा को अपेक्षाकृत युवा होना चाहिए, उसे बूढ़ी, बन्ध्या, अतीत प्रजनन शक्ति, बीमार, इच्छाहीन या गर्भवती नहीं होना चाहिए (8) पुत्रोत्पति के पश्चात दोनों को एक दूसरे से अर्थात नियुक्त पुरूष को श्वसुर या एवं नियुक्त विधवा या स्त्री को वधू सा व्यवहार करना चाहिए।[141] काणे का मत है कि धर्मसूत्र काल में भी नियोग उतना सरल नहीं था और यह प्रथा उतनी प्रचलित नहीं थी।[142] आपस्तम्ब धर्म सूत्र[143] तथा बौधायन[144] धर्म सूत्र में नियोग की भर्त्सना की है।

मनु ने नियोग का वर्णन करने के उपरान्त इसकी बुरी तरह से भर्त्सना की है। मनु ने इसे नियम विरूद्ध और अनैतिक ठहराया है। उन्होने राजा वेन को इसका प्रथम प्रचालक माना है और वर्ण संकरता का जनक मानकर, निन्दा की है। उन्होने लिखा है कि भद्र और विज्ञ लोग नियोग की निन्दा करते हैं, किन्तु कुछ लोग इसे अज्ञानवश अपनाते हैं।[145] समाज में धीरे-धीरे प्रबल विरोध के कारण नियोग अतीत का स्मृति शेष बनता चला गया बृहस्पति ने लिखा है कि मनु ने प्रथम नियोग का वर्णन करके इसे निषिद्ध किया है, इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में लोगों में तपोबल ओर ज्ञान था, अतः वे नियमों का पालन कर सकते थे, किन्तु द्वापर एवं कलियुग में लोगों को शक्ति एवं बल का ह्रास हो गया है, अतः वे नियोग के पालन में असमर्थ है।[146] समाज में ऐसे चिन्तकों का एक वर्ग बन गया था जो नियोग से उत्पन्न पुत्रों को वास्तविक पुत्रों का स्थान देने के लिए तैयार नहीं था।[147] ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक विरोध के कारण, यह प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो गयी और विष्णुपुराण में इस प्रथा का उल्लेख परम्परा के अनुसार किया गया है।

पुनर्विवाहः

वशिष्ट के अनुसार पुनर्भ दो प्रकार की होती थी एक तो युवा पति को छोड़कर जो दूसरे पुरूष के पास पुनः प्रथम पति के पास वापिस लौट आती है तथा दूसरे जो स्त्री नंपुसक, पतित और पति को छोड़कर अथवा पति के मर जाने पर विवाह करती है।[148] कौटिल्य भी इस प्रथा के पक्षधर प्रतीत होते हैं वह विधवा के दूसरे विवाह से उत्पन्न पुत्र को पुर्नभव[149] कहते हैं। मनु पुनर्विवाह की प्रथा के विरोधी प्रतीत होते हैं। मनु के अनुसार प्रतिव्रता स्त्रियों के दूसरे पति का उल्लेख शास्त्रों में नहीं प्राप्त होता,[150] अशं[151] (पुत्रादि का अंश) एक ही बार दिया जाता है, कन्या एक ही बार दी जाती है, ''देता हूँ'' ऐसा वचन एक ही बार कहा जाता है, सज्जनों के ये तीनों कार्य एक ही बार होते हैं।[152] नारद भी इसी प्रकार की अवधारणा व्यक्त करते हैं।[153] कुछ स्मृतियां पति के विनष्ट हो जाने पर या मर जाने पर, विदेश चले जाने पर, नपुंसक या पतित होने पर, इन पांच तरह की आपत्तियों में स्त्रियों के पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान करती है।[154] मनु पुनर्विवाह से उत्पन्न पुत्र को इतना अपवित्र मानते हैं कि श्राद्ध जैसे अवसर पर नर्तक, स्त्री संभोग से व्रतभष्ट ब्रह्मचारी, शूद्रा का पति, एक आंख वाला व्यक्ति, जिसके घर में (स्त्री का) उपपति (जार) रहता हो, के साथ पुर्नभव को नहीं बुलाने का विधान प्रस्तुत करते हैं।[155]

पुनर्विवाह का उल्लेख करने के बाद भी विष्णुपुराण पुर्नभव को मनु के द्वारा निर्दिष्ट श्रेणी में रखा जाता है। विष्णुपुराण पुनर्विवाहिता के पति का श्राद्ध से निषेध करता है। पुनर्विवाह के पति को मित्रधाती, स्वभाव से विकृत नखों वाले, नपुंसक, काले दांतो वाले, कन्यागामी, अग्नि और वेद का परित्याग करने वाले, लोक निन्दित, चोर, चुगुलखोर, ग्राम पुरोहित, माता-पिता का त्याग करने वाले, शूद्र को सन्तान का पाल करने वाले, शूद्रा का पति तथा देवोपजीवी ब्राह्मण, की श्रेणी में रखा जाता है।[156] इससे यही प्रतीत होता है कि समाज में पुनर्विवाह का प्रचलन अत्यन्त ही कम हो गया था और इस प्रकार के वैवाहिक संबंधों को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। कूर्म पुराण में भी ऐसे व्यक्ति को श्राद्ध के अवसर पर बुलाने से मना किया गया है।[157] इस काल से संबंधित मनु के टीकाकार भारूचि ने भी विधवा का समर्थन नहीं किया है अपितु अगर्हित शिल्पादि वृत्तियो के द्वारा, जीवन यापन करने को कहा है।[158] मेघातिथि भी दूसरे विवाह के पक्ष में प्रतीत नहीं होते, वह भी स्त्री को शिल्पादि के द्वारा अपना भरण पोषण करने की सलाह देते हैं।[159] कूर्म पुराण में पुनर्विवाहिता के पुत्र को पतित के रूप में वर्णित किया गया है।[160] तथा भाई की विधवा से विवाह को सर्वथा अनुचित वर्णित किया गया है।[161] अग्नि पुराण में भी पुनर्विवाह और पुनर्विवाहिता को सम्मान की दृष्टि ने नहीं देखा गया है।[162]

स्त्री का पण्य के रूप में उल्लेखः

आलोचित काल की एक प्रवृत्ति ने जिसने स्त्रियों के सामाजिक महत्व को क्षीण किया, वह था उनका ''धन'' (स्त्रीधन) अथवा पण्य के रूप में उल्लेख तथा व्यवहार में उसका, उसी (पण्य) के रूप में प्रयोग अथवा उपभोग करने की प्रवृत्ति। विष्णुपुराण में वर्णित है कि आभीरों ने श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण धन तथा स्त्रीधन को अपने अधीन कर लिया।[163] यहां पर उल्लेखनीय तथ्य ''स्त्री का धन के रूप में तथा कोष के साथ उसका उल्लेख है। एक अन्य दृष्टि से स्त्री के रत्न के रूप में उल्लेख की व्याख्या, उसके महत्व को विस्तार करते हुए की जा सकती है कि समाज में स्त्री का मान सम्मान इतना था जितना अनमोल और महत्वपूर्ण रत्नों का परन्तु इस तथ्य का दूसरा पक्ष यह भी था कि उसे रत्नों के भांति ही आदान-प्रदान किया जा सकता था, जिसमें उसके मनोभावों और संवेदना का कोई स्थान नहीं था। हरिवंश में वर्णित है कि लोग फल देने वाले वृक्षों को गुणवती स्त्रियां तथा बहुमूल्य रत्न के समान मसझते हैं।[164] संभवतः स्त्री को 'पण्य' के रूप में प्रतिष्ठापित करने के कारण ही कभी-कभी उसके बेचे जाने का का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में स्त्री के विक्रय का प्रत्यक्ष उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु एक ही स्थल पर वर्णित है कि स्त्रियों के बेचने वाले तपृलौह नरक में जाते हैं।[165] ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में कन्या की विक्री का

प्रचलन किसी न किसी स्तर पर प्रचलित अवश्य था। बौधायन धर्म सू.त्र में वर्णित है कि जो अधम व्यक्ति लोभाभिभूत होकर धन लेकर पुत्री को देते हैं, वे स्वयं अपना ही विक्रय करते हैं, अत्यन्त पापी होते हैं और घोर नरक में गिरते हैं और अपने वंश की सातवीं पीढ़ी तक नष्ट कर देते हैं। वे बार बार जन्म लेते और मरते हैं, ये सभी दोष कन्या के बदले धन लेने पर उत्पन्न बताये गये हैं।[166] मनु भी सन्तान की बिक्री को कन्या दूषण, सूद लेने, व्रत नष्ट करने आदि के समान उपपातक समझते हैं[167] याज्ञवल्क्य ने कन्या बिक्री के बारे में स्पष्टः कहीं कुछ नहीं लिखा है किन्तु व्यास का मत है कि कन्या 'अशुल्का-दाननुषिता' हो।[168] अग्नि पुराण में भी वर्णित है कि स्त्रियों को जीतने वाले को श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिए।[169]

स्त्री का पण्य के रूप में उल्लेख निःसंदेह स्त्री की पराधीनता का द्योतक है। राजाओं को विस्तारवादी नीति तथा सांमतवादी प्रवृत्ति ने इस संस्कार को अवश्य ही बढ़ावा दिया होगा। प्रयाग प्रशस्ति में वर्णित है कि विजित नरेश अपनी कन्याओं को समुद्रगुप्त को उपायन के रूप में सपर्मणार्थ उत्सुक रहा करते थे।[170] विष्णुपुराण में ही एक स्थल पर विवृत है कि जाम्बवान् ने अपनी कन्या को अर्थ के रूप में श्रीकृष्ण को समर्पित किया था।[171] इसी प्रकार गान्दिनी को उसके पिता ने शवफल्क को दिया थां[172] ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित काल में कन्या को सामान्य धन के

समान समय-समय पर सम्मानीय अभ्यागतों को समर्पित किया जाता था। स्त्री विक्रय की प्रथा मध्यकाल तक चलती रही, जैन साहित्य और इतिहास में, हीरानन्द शास्त्रों द्वारा वि0स0 1288 का लिखा हुआ, एक स्त्री विक्रय पत्र उद्धत किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि राजा लोग, स्त्रियों को दासों के रूप में लूट कर लाते थे और चौराहों पर खड़ा करके बेचते थे। यदि मारपीट से तंग आकर वह आत्महत्या कर लेती थी तो उसका मालिक केवल गंगा स्नान करके शुद्ध हो जाता था तथा दासों को दूसरे जन्म में कुतिया या चाण्डाली होना पड़ता था।[173]

गणिकाओं की स्थितिः

आलोचित पुराण से ज्ञात होता है कि वारांगनाओ को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। विष्णुपुराण एवं हरिवंश में वर्णित है कि कंस की रंगशाला में कृष्ण और चारूण, मुष्टिक के युद्ध पर अन्तःपुर की स्त्रियों तथा नगर की महिलाओं के साथ, अलग से वारांगनाओं की बैठने की व्यवस्था की गयी थी।[174] वारांगनाएं अथवा गणिकाएं नृत्य और संगीत में कुशल मानी जाती थी।[175] सामान्यता उन्हें सर्वसाधारण की भोग्यवस्तु समझा जाता था तथा उत्सवों में इनकी उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी।[176] हरिवंश में पिण्डारक तीर्थ के अंतर्गत समुद्र में श्री कृष्ण तथा अन्य यादवों के जल

विहार के प्रंसग में, यादवों के साथ यात्रा पर निकली, वस्त्राभूषणों से अलंकृत तथा रूप सौन्दर्य से सम्पन्न, सहस्त्रों गणिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। पुराण में विविध वेशधारी इन युवतियों को क्रीड़ानारियों के रूप में वर्णित किया गया है चूंकि वह गुणों द्वारा सभी कुमारों की इच्छानुसार उनके उपभोग में आती थी, अतः राजकुमारों को उपभोग्या होने के कारण वे राजन्या कहलाती थी।[177] भास के नाटकों में गणिका से संबंधित बड़े उदार विचार प्राप्त होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि भास के समय वें वेश्या और गणिका दोनों की पृथक-पृथक स्थिति थी। मौर्य काल में वारांगना को वेश्या की अपेक्षा अधिक पवित्र माना जाता था।[178] ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित काल में गणिकाओं से इतर वेश्याओं के एक ऐसे वर्ग का उदय हो गया था जो अपने शरीर का विक्रय कर धनार्जन करती थीं और इनके पति भी होते थे। विष्णुपुराणम ˙ वर्णित है कि पत्नी के असदवृत्ति से निवर्हन करने वालों को नर्क प्राप्त होता है,[179] इस प्रकार की वृत्ति का आश्रय करने वाला रूधिरान्ध नरक में पतित होता है। श्रीधर ने उपर्युक्त श्लोक पर भाष्य करते हुए, पत्नी के 'असद् वृत्ति'' द्वारा धनोपार्जन पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार अपने सतीत्व को बेच कर धन प्राप्त करना ही, असद वृत्ति है। इस प्रसंग में श्रीधर ने किसी स्मृति के कथन को अपने पक्ष में उद्धत कर, अपने कथन को स्पष्ट किया है।[180] ब्रह्म पुराण में भी स्त्रियों द्वारा शरीर

विक्रय की बात कही गयी है।[181] ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित काल तक गणिका और वेश्याओं का प्रभाव धीरे-धीरे सम्मिलित होता जा रहा था। मृच्छकटिकम् में उनकी तुलना ऐसे तालाब से की गयी है, जहां पर द्विजवर तता वर्णाधर्म मूर्ख स्नान कर सकता है, जहां पर मोर और वायस दोनों समान रूप से बैठते हैं।[182] वेश्या के घर को युवकों का निवास स्थान कहा गया है। उसे मार्ग की लता के भांति जन सम्पत्ति समझा जाता था। उसकी शरीर पण्यभूत तथा धनहार्य था। प्रिय एवं अप्रिय की पाशविक मनोवृत्तियों एवं वासनाओं की तृप्ति उसे अपनी असहाय अवस्था के कारण करनी पड़ती थी।[183] दशकुमार चरित से पता चलता है कि वेश्याओं का नृत्य, गीत, संगीत, चित्र रचना, व्याकरण तर्क एवं ज्योतिष की शिक्षा दी जाती थी।[184] जब वह हर तरफ से प्रशिक्षित हो जाती थी तो उन्हें प्रचुर धन लेकर नायक के साथ कर दिया जाता था। इसके अतिरिक्त स्वयं ही प्रेम में अन्धे तथा वेश्या के विलासादि के अवलोकन से पागल कर दिये गये जाति, रूप, उम्र, धन, थोड़ा भी लेकर, बहुत लिया है,[185] प्रचार कर सौंप देना, पराधीन के गार्न्धव रीति से विवाह कर उसके गुरूजनों (माता-पिता) से पैसा ऐंठना, धन न मिलने पर मैत्री आदि प्रेमी अनुरागी हो तो उसके लिए पुत्री से पतिव्रत धर्म का पालन करना, नित्य रूप, नैमित्तिक रूप एवं स्नेह से मिले उपहारों से लिए धन से प्रेमी को जो धन बचे उसका अद्भुत उपायों से

अपहरण करना।[186] मत्स्य पुराण में वेश्याओं सम्बन्धित पण्य स्त्री व्रत का उल्लेख विस्तार किया गया है।[187] इस व्रत का पालन करने से पण्य स्त्रियों (वेश्याओं) का इस लोक तो सदा अधर्म का भागी नहीं होना पड़ेगा, ऐसा अनुज्ञप्त है।[188] मत्स्य पुराण के सैक्रेड बुक ऑफ हिन्दूज के अन्तर्गत किये गये अनुवाद में पण्य स्त्री का अर्थ जन स्त्री (च्नइसपब ॅवउमद) किया गया है, जो इसके स्वरूप को स्पष्ट करता है।[189]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. द्रष्टव्य, सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत 'विवाह'
2. अथर्व0 3/23/2
3. विष्णु पु0 5/2/20-21
4. मत्स्य पु0 227/150
5. विष्णु पु0 1/13/42
6. मत्स्य पु0 5/3/14
7. वही द्रष्टव्य पाद टिप्पणी 3
8. वही 4/2/101-111
9. मत्स्य पु0 154/157
10. विष्णु पु0 3/10/26
11. मत्स्य पु0 58/21
12. वही 18/13, 54/24, 96/13, 57/22
13. ऋग0 1/72/5
14. तैत्तरीय ब्रा0
15. अष्टाध्यायी 4/1/33 - पत्युर्नोयज्ञसंयोगे
16. मनु0 5/155 नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो

17. वि0पु0 2/15/14

18. वही 1/11/20

19. वही भाग 1, पृ0 84

20. मत्स्य पु0 31/32

21. विष्णु पु0 4/19/12

22. वही 4/6/28-30

23. वही 3/10/16

24. वही 3/16/20 गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्यां ...।

25. श्रीधर भाष्य, 3/10/16 पर, विष्णु पु0 भाग 1

26. वही

27. छान्दोग्य उपनिषद 1/10/1

28. उपर्युक्त 1/10/1

30. महा0 अनुशासन पर्व 44/14

31. मनु 9/94

32. पाराशर 5/6-9

33. गौतम स्मृ0 18/21/23

34. यम स्मृ0 22-23

35. व्यास स्मृ0 2/7

36. संस्कार - प्रकाश पृ0 373

37. विष्णु स्मृति 24/41

38. श्रीधर, विष्णु पुराण भाग 1, 3/16/20

39. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन पृ0 159

40. आयंगर, के0वी0 रामास्वामी : सोशल एण्ड पोलिटिकल एसपेक्ट, ऑफ मनु स्मृति, पृ0 156

41. विष्णु पु0 5/32/11-13

42. वही 4/1/11-12

43. वही 4/1/67-96

44. वही 4/2/69-96

45. वही 4/2/83 - भगवान अस्मत्कुल स्थितिरियं य एव कनयाभिरूचितोऽभिजनवान्वरस्तस्मैः कन्यां प्रदीयते ....।

46. वाल्टर ए फेयर सर्विस जूनियर : द रूट्स ऑफ एशियन्ट इण्डिया पृ0 380

47. मुकर्जी, बी0एन0, मथुरा एण्ड इट्स सोसाइटी पृ0 105 (द शक पहलव फेज)

48. यम, स्मृति चन्द्रिका पृ0 590

49. कुजूर, स्कॉलास्तिकाः वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी, पृ0 335, श्रीमती कुजूर के अनुसार मातृजाति के लिए दो बाते सबसे घातक सिद्ध हुई है – वेदाध्ययन का निषेध और बाल विवाह।

50. राय : पौ0 ध0 स0 पृ0 268

51. विष्णु पु0 1/10/19

52. वायु पु0 30/28-29, ब्रम्हाण्ड पृ0 2/13/20

53. ब्रम्हाण्ड पु0 3/2/28

54. वायु पु0 66/27

55. अल्टेकर, ए0 एस0, वही पृ0 11

56. भाष्य 4/1/14 – आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशाला।

57. वही 4/1/14

58. अग्रवाल, वी0एस0 : पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ0 103

59. मत्स्य पु0. 20/27

60. वही 4/14

61. वही 15/5-6

62. वायु पु0 107/5-6

63. अल्टेकर, वही पृ0 11

64. अल्टेकर, वही पृ0 402

65. विष्णु धर्म सूत्र 27/13-14

66. मनु 2/66

67. वही 9/18

68. याज्ञ0 आचाराध्याय - 13

69. गोभिल सू0 2/1/19

70. काठक गृ0 सू0 19/2

71. आवश्व0 गृ0 सू0 3/8/11-15

72. स्मृति चन्द्रिका, संस्कार कां, पृ0 62

73. वही

74. विष्णु पु0 1/15/63

75. वही 4/13/85

76. ब्रह्माण्ड पु0 3/30/25, 37

77. मत्स्य पु0 215/61

78. स्वप्रावदत्तं, अंक-3

79. बृद्ध हारीत, उद्धत ओम प्रकाशः प्रा0 भा0 सा0 आ0 इ0 पृ0 124

80. विष्णु पु0 5/38/2

81. वही 5/38/3

82. वही 3/18/93

83. वही 3/18/61

84. वही 4/3/29-30 - स च वाहुर्वृद्धभावादोर्वाश्रमसमीपे ममार

85. वही 4/3/33

86. अल्टेकर, वही पृ0 118

87. महा0 आदि पर्व 95/65

88. वही मौसल 17/7-8-24

89. कुमारसंभव 4/33, 35, 36, 45

90. मृच्छकटिकम् अंक

91. कामसूत्र 6/2/53

92. वही 6/2/53

93. का0 इं0 इं0 भाग-3, पृ0 95

94. वही 3, भूमिका, पृ0 93

95. हर्ष चरितम् पांचवा उच्छ्यास - पृ0 291-92

96. बृहस्पति0 483-84

97. व्यास 2-53

98. दक्ष स्मृति 4/19

99. वही 4/20

100. कूर्म पु0 2/33/108-109

101. ब्रह्म पुराण का उद्धरण, कृत्यकल्पतरु, पृ0 634

102. पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड 49/72-73

103. अल्टेकर, वही पृ0 129

104. व्यास स्मृति, जीवानंद 2, पृ0 329

105. मिताक्षरा 1/86

106. मेधा तिथि, मनु 8/156-57 पर भाष्य

107. कादम्बरी : पूर्वार्द्ध, पृ0 308

108. अपरार्क 1/87

109. दायभाग पृ0 46, 56

110. विष्णु पु0 4/13/131-40

111. वही 4/13/151-54

112. वही 4/1/15

113. ऋग्वेद 2/17/7

114. महा0 13/80/11

115. वही 13/80/11

116. अर्थशास्त्र 3/5

117. याज्ञ0 2/135

118. बृहस्पति 15/25, नारद0 13/50 पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसंतानकारणात्

119. कात्यायन, याज्ञ0 2/135-36

120. विष्णु स्मृ0 18/34

121. नारद 13/13

122. विशेष अध्ययन के लिए, द्रष्टव्य संस्कार खण्ड के अन्तर्गत विवाह

123. ऋग 7/26/3

124. विष्णु पु0 4/2/79

125. अग्रवाल, वी0 एस0, कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 79

126. रघुवंश 6/59

127. वही 6/20

128. वही 6/30

129. वही 6/30

130. वही 6/82 - तथा गतायां परिह्वासपूर्ण संख्या सखी वेवभृदाबभाषे।

131. वही 6/26

132. वही 6/28

133. अग्रवाल : वही पृ0 79

134. अग्रवाल : वही पृ0 109

135. रत्नावली, द्वितीय अंक पृ0 54

136. विष्णु पु0 5/29/9

137. वही 5/31/14-15

138. वही 5/31/16

139. वही 4/18/13

140. वही 4/19/16

141. वही 5/48/38

142. काणेः ध0 शा0 इ0 (हिन्दी संस्करण) भाग-1, पृ0 339

143. आ0 ध0 सू0 2/10/27/5-7

144. बौ0 ध0 सू0 2/2/38

145. मनु0 9/64-68

146. बृहस्पति (याज्ञवल्क्य 1/68-69 की टीका में अपरार्क द्वारा तथा मनु 9/68 की टीका में कुल्लूक द्वारा उद्धृत

147. भास कृत, दूत वाक्य 5/21

148. वशिष्ठ, जीवानंद 2, पृ0 487

149. अर्थशास्त्र 3/7/12

150. मनु0 5/165

151. वही 9/47

152. वही 9/47

153. नारद 12/28

154. नारद 12/97

155. मनु0 3/155

156. विष्णु पु0 3/15/5-8

157. कूर्म पु0 2/21/39

158. मनु 9/76 पर भारुचि की टीका

159. मनु 9/76 पर मेघातिथि की टीका

160. कूर्म पु0 17/13-14

161. वही 2/17/14

162. अग्नि पु0 168/3

163. विष्णु पु0 5/48/20

164. हरिवंश 86/56

165. विष्णु पु0 2/6/11

166. बौधा0 घ0 सू0 1/11/5

167. मनु 11/61

168. व्यास 2/2

169. अग्नि पु0 168/5

170. सरकार : स0 इ0 पृ0 258

171. विष्णु पु0 4/13/55

172. वही 4/13/125

173. वही 5/20/27

174. हरिवंश, विष्णु पु0 88/8

175. वही 88/9

176. विष्णु पु0 2/6/22-23

177. वही 2/6/22-23

178. शास्त्री नेमिचन्द्र - महाकविभाष पृ0 509

179. वही

180. श्रीधर, विष्णु पु0 भाग-2, पृ0 217

181. ब्रह्म पु0 231/10-11

182. मृच्छकटिकम् अंक

183. वही अंक

184. दशकुमार चरित, द्वितीय उच्छवास, पु0 20-21

185. वही

186. वही

187. मत्स्य 70/1

188. वही 70/60

189. सैक्रेड बुक आफ हिन्दूज, मत्स्य पुराण, पृ0 209

अध्याय – 5
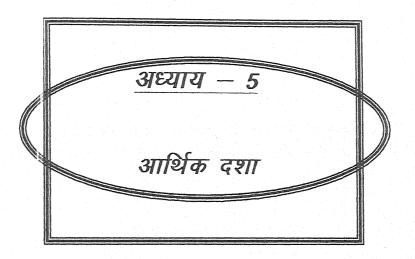
आर्थिक दशा

आर्थिक दशा

पुराणों में आर्थिक दशा का चित्रण अथवा प्रस्तुतीकरण अलग से नहीं किया गया है क्योंकि पुराणों के प्रतिपाद्य विषयवस्तु से आर्थिक विचार बाहर की वस्तु थी।[1] पुराणों के आर्थिक विचार प्रायः किसी कथा के प्रसंग में या उदाहरण वश प्राप्त होते हैं, कभी-कभी उपदेशों के माध्यम से भी पुराणों की अर्थ सम्बन्धी अवधारणा स्पष्ट होती है। पुराणों में आर्थिक दशा विषयक स्थलों को ''वार्ता'' के माध्यम से प्रकट किया गया है।[2] ''वार्ता' शब्द का मूल है कि वृत्ति अर्थात् जीविका। कौटिल्य ने राष्ट्र के निर्मार्ण के लिए वार्ता के व्यवहारिक उपयोग पर बल दिया है।[3] विष्णु पुराण में वार्ता के महत्व को प्रतिपादित करते हुए, इसे स्वाभाविक सुरक्षा एवं जीविका के साधन के रूप में वर्णित किया गया है।[4] इसी प्रसंग में वायु और ब्रह्माण्ड पुराण के स्थल त्रेतायुग का संदर्भ देते हैं, जबकि मनुष्य का अपकर्ष हुआ तथा इसके परिणाम स्वरूप उसकी सहज और स्वाभाविक पूर्वकालीन सिद्धियों का भी तिरोभाव हुआ। विवेचन क्रम में दोनों पुराण ऐसा वर्णित करते हैं कि वार्ता प्रवर्तन इसी परिस्थिति विशिष्ट युग में हुआ था।[5] इसी प्रसंग में मत्स्य पुराण में वर्णित है कि द्वापरबोधित युग-भेद के साथ-साथ मतिभेद हुआ था तथा ऐसी स्थिति में मन, वचन और कर्म की कठिनता के साथ वार्ता व्यवस्थित हुई थी।[6]

रामायण में वार्ता की सुख प्राप्ति का साधन घोषित किया गया है, तथा महाभारत में इसे विश्व संस्थिति का मूल वर्णित किया गया है।[8] सामान्यतः अर्थ को प्राचीन भारतीय परम्परा में महत्व प्रदान करते हुए, इसे जीवन के चार उपादानों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) में से एक स्वीकार किया गया। अर्थ को परिभाषित करते हुए "दशकुमार चरित" में वर्णित किया गया है कि अर्थ का विषय है कमाना, (धन) बढ़ाना और (धन) की रक्षा, इसके अंग हैं खेती, पशु-पालन, वाणिज्य, संधि, विग्रह (लड़ाई) आदि तथा इसका फल है योग्य व्यक्ति को दान देना।[9]

आलोचित काल की अर्थव्यवस्था को समझने के लिए, इस काल की राजनैतिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि इस काल की राजनीतिक अवस्था, विशेषकर सामन्तों के उदय ने आर्थिक विचारधारा और अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया। विष्णु पुराण में एक स्थान पर विराट्, स्वराट्, सम्राट और अधिपुरूष[10] राजाओं के विभिन्न प्रकार बताए गये हैं। विभिन्न सम्राटों के प्रकारों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि एक ऐसी व्यवस्था का उदय हो गया था, जिसमें सर्वोच्च सम्राट के अतिरिक्त अन्य छोटे-बड़े सीमाओं वाले राज्यों के शासक थे। बड़े शासकों को चक्रवर्ती के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। सामन्तों का पूर्ण विकास हो गया था, विष्णु पुराण में स्पष्टतः "सामन्त" शब्द का उल्लेख नही प्राप्त होता, परन्तु प्रसंगवश ऐसे राजाओं का उल्लेख प्राप्त

होता है जो कंस की सभा में अपने भृत्यों के साथ आए थे।[11] ये राजा निश्चित रूप से कंस के सामन्त रहे होंगे। डा0 शर्मा सामन्त व्यवस्था का उद्भव मौर्योत्तर काल एवं विकास गुप्त काल के मानते हैं।[12] अभिलेखीय साक्ष्यों से यह विदित होता है कि गुप्तकाल से सामन्त व्यवस्था का प्राधान्य हो जाता है।[13] छठवीं शताब्दी में विदित जागीरदारों को सामन्त रूप में मान्यता प्रदान कर दी गयी थी।[14] सातवीं शताब्दी से सामन्त प्रथा का पूर्ण प्रचलन हो गया था।[15] सामन्तों का उल्लेख अन्य पुराणों तथा ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार विश्वकर्मा ने इसे सुरम्य नगर का निर्माण किया था, उसमें सामन्त, आमात्य, सैनिक, ब्राह्मण, वेताल तथा दास एवं दासी के अलग-अलग भवन थे, के संदर्भ में प्राप्त होता है।[16] ब्रह्माण्ड पुराण में पुनः जमदग्नि की भी पुरी में सामन्तों का वर्णन किया गया है।[17] इसी प्रकार मत्स्य पुराण में भी राजा के अन्य कर्मचारियों के साथ सामन्तों के आवास का वर्णन प्राप्त होता है।[18]

विष्णु पुराण से ज्ञात होता है कि इस काल में राजाओं का महत्व अत्यधिक बढ़ गया था, यदि उनका महत्व बढ़ा नहीं था तो यह मानना पड़ेगा कि एक ऐसी प्रवृत्ति का विकास हो गया था जो राजाओं को अति महत्वपूर्ण मानती थी। राजाओं को सर्वदेवमय एवं ईश्वर के अंश मानने की परम्परा को दृढ़ता के साथ विष्णु पुराण में स्थापित किया गया है।[19] एक अन्य स्थल पर पुराण में मनु, मनु पुत्र, राजागण, इन्द्र देवता

तथा सप्तर्षि इन समस्त जगत के पालन कर्ताओं को भगवान का सात्विक अंश वर्णित किया गया है।[20] राजाओं के बढ़ते हुए महत्व का परिचय, विष्णु पुराण के उस अंश से भी होता है जहां पर कुछ राजाओं को लोक पालों के रूप में वर्णित किया गया है,[21] जबकि इन्द्रादि देवताओं का वर्णन लोकपालों के रूप में किया गया है।[22] पुराण में विष्णु के परम गुण को ''ईशन'' अथवा शासन वर्णित किया है जो उल्लेखनीय है।[23] इसी प्रकार गृहस्थ के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए पुराणकार राजा को प्रतिदिन जल तर्पण की बात करता है।[24] ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित काल में अनेक राजाओं तथा सामान्तों का प्रादुर्भाव हो गया था, छोटे-छोटे इन अनेक सामंतीय राजाओं का राजनैतिक महत्व बहुत अधिक नहीं था। अतः राजा की प्रतिष्ठा को धर्म से जोड़कर पुराण द्वारा सामंतीय चरित्र को पुष्ट करने का प्रयास किया जाना, प्रतीत होता है। अनेक राजाओं की पुष्टि पुराण के उस स्थल से होती है जहां पर वर्णित है कि कलियुग में सभी वर्णो में जो-जो बलवान होगा, राजा बन जायेगा।[25] एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि जिस-जिस के पास बहुत से हाथी घोड़े और रथ होगें, वह राजा हो जाएगा, यह राजनैतिक विघटनवाद और सामंतवाद के चरम उत्कर्ष को प्रकट करता है। ऐसी राजनैतिक व्यवस्था ने प्रजा के कष्टों को निश्चित रूप से बढ़ाया होगा।[26]

दूसरी शताब्दी ई0 पू0 के, अमरावती और जगय्येपेट्ट के कलांकनों में एक चक्रवर्ती सम्राट को सात रत्नों के साथ प्रदर्शित किया गया है। चक्रवर्ती को दाहिना हाथ उठाए हुए प्रदर्शित किया गया है जो आकाश को छू रहा है तथा आकाश से स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा हो रही है। चक्रवर्ती को भार्या (रानी), अश्व, चक्र, गज, छत्र तथा निधियों के साथ उत्कीर्ण किया गया है।[27] चक्रवर्तियों को धर्म अथवा चक्र का प्रतीक माना जाता था जो सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के कारण थे। लोगों की खुशहाली एवं समृद्धि चक्रवर्ती पर निर्भर करती थी, यही कारण है कि समय-समय पर उनके आगमन को सार्वभौमिक सुख के रूप में प्रकट किया जाता था।[28] जैन महापुराण में रत्न सहित नव निधियां, रानियां, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, बर्तन, भोज एवं वाहन आदि राजा के दस भोग के साधन वर्णित हैं।[29] इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर अशोक वृक्ष, दुन्दुभि, पुष्प वृष्टि, चमर, सिंहासन, अनुपम वचन, उच्च छत्र तथा भामण्डल ये आठ चक्रवर्ती के ऐश्वर्य निरूपित हैं।[30] आलोचित पुराण में सात, आठ तथा दस से संख्या बढ़ कर चौदह हो जाती है। यदु पुत्र कोष्ट के वंश में उत्पन्न शशिविन्दु नामक राजा को चक्रवर्ती तथा चौदह रत्नों का स्वामी वर्णित किया गया है।[31] पुराण में चौदह रत्नों का उल्लेख मात्र, यही प्रकट करता है कि रत्नों के साथ चक्रवर्तियों का सम्बन्ध पूर्णतः स्थापित हो गया था, इसी कारण से पुराणकार ने इसे व्याख्या के योग्य नहीं समझा। विल्सन के अनुसार चक्रवर्ती के चौदह

महारत्नों में चक्र, रथ, मणि, खड्ग, चर्म (ढाल), ध्वजा और निधि (खजाना) ये सात निर्जीव तथा स्त्री, पुरोहित, सेनापति, रथी, यदाति, अश्वारोही और गजारोही - ये सात सजीव, इस प्रकार कुल चौदह रत्न समस्त चक्रवर्तियों के यहां होते हैं।[32] वायु पुराण में भी चक्रवर्ती के चौदह रत्नों का उल्लेख प्राप्त होता है, उसमें भी उपयुर्क्त वर्णित सात सजीव तथा सात निर्जीव रत्नों का ही वर्णन प्राप्त होता है।[33] मत्स्य पुराण में वर्णित है कि उस समय सत्य, जप, तप, और दान ये ही प्रारम्भिक धर्म कहलाते थे और जब धर्म का ह्रास होता था तो अधर्म की शाखाएं बढ़ने लगती थी, तब त्रेतायुग में शूरवीर चक्रवर्ती सम्राट उत्पन्न होते थे, जो दीर्घायु सम्पन्न, महाबली, दण्ड देने वाले, महायोगी, यत्र-परायण और ब्रह्निष्ठ थे, जिनके नेत्र कमल दल, के समान विशाल और सुन्दर, मुख भरे पूरे और शरीर सुगंठित थे, जिनकी छाती सिंह के समान चौड़ी थी, जो महान पराक्रमी और मतवाले गजराज की भांति चलने वाले और महान धनुर्धर थे, वे सभी राज लक्षणों से परिपूर्ण तथा न्यग्रोध के समान मण्डल वाले थे।[34] पूर्वकाल के स्वायम्भुव मन्वन्तर में चक्र (शासन, आज्ञादि भी) रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व, और गज, ये सातों (चल) रत्न कहे गये हैं। दूसरा चक्र (अचल) मणि, खड्ग, धनुष, रत्न, झंडा और कोष ये स्थिर (अचल) सप्त रत्न हैं, सब मिलकर यही चौदह रत्न हैं।[35] पुराण पुनः कहता है कि बीते हुए और आने वाले सभी मन्वन्तरों में भूतल पर चक्रवर्ती सम्राट विष्णु के अंश से उत्पन्न होते हैं।[36]

भू स्वामित्व

भू स्वामित्व का प्रश्न प्राचीन भारत और पूर्व मध्यकाल में उलझा हुआ प्रतीत होता है। भू स्वामित्व से सम्बन्धित इस काल से सम्बन्धित जो प्रमाण प्राप्त होते हैं, उनसे तीन तरह के स्वामित्वों का परिज्ञान होता है (क) व्यक्तिगत स्वामित्व (ख) सामूहिक स्वामित्व (ग) राजा का स्वामित्व। जहां तक व्यक्तिगत स्वामित्व का प्रश्न है, पार्जिटर ने इस सम्बन्ध में बंगाल के तीन अभिलेखों को उद्धृत करते हुए, उन तीनों अभिलेखों में से एक के आधार पर, इसका आंशिक समर्थन किया है। भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व सर्वथा मुक्त नहीं था अपितु वह परिसीमित था।[37] के.पी. जायसवाल भी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा का समर्थन करते हैं।[38] "मिलिन्दपन्ह" के अनुसार जमीन उसी की है जो सबसे पहले उसे जोते, जैसे हिरण उसी का होता है,[39] जो सबसे पहले तीर मारता है।[40] भू स्वामित्व की दूसरी अवधारणा अर्थात् सामूहिक स्वामित्व को बसाक जैसे विद्वानों का समर्थन प्राप्त है। पार्जिटर द्वारा उल्लिखित तीनों अभिलेखों की स्थानान्तरण सम्बन्धी प्रक्रिया के अध्ययन के उपरान्त, बसाक ने यह मत व्यक्त किया है कि भूमि राज्य की नहीं, सम्पूर्ण ग्राम या ग्राम सभा की थी और इसलिए उनका हस्तान्तरण बिना किसी सहमति के नहीं हो सकता था।[41] मजुमदार ने भी भूमि पर सामूहिक स्वामित्व को स्वीकार किया है।[42] अल्टेकर के अनुसार जोती

जाने वाली भूमि का स्वामी या तो व्यक्ति होता था अथवा परिवार, भूमि का स्वामित्व राज्य में निहित नहीं था।[43] भू स्वामित्व की तीसरी अवधारणा, जिसके अनुसार राजा भूमि का स्वामी होता था, जिसका समर्थन घोषाल जैसे विद्वान करते हैं।[44] घोषाल द्वारा प्रतिपादित मत को, बार्नेट भी स्वीकार करते हैं।[45] बाशम के अनुसार, अधिकांशतः कृषक स्वतंत्र होते थे तथा उपज पर उनका अधिकार होता था, परन्तु भूमि का अन्तिम रूप से स्वामी राजा होता था।[46]

विष्णु पुराण में सम्पत्ति अथवा भू स्वामित्व सम्बन्धी दो प्रकार के मत प्राप्त होते हैं। पारिजात के प्रसंग में, उद्यान रक्षकों पर क्रोधित होकर सत्यभामा पारिजात पर इन्द्र के स्वामित्व को चुनौती देती हुई कहती हैं कि यह अमृत मन्थन के समय उत्पन्न हुआ है, तो यह सबकी सम्पत्ति है। अकेले इन्द्र इसे कैसे ले सकता है।[47] जिस प्रकार समुद्र से उत्पन्न हुए मदिरा, चन्द्रमा और लक्ष्मी का सब लोग समानता से भोग करते हैं, उसी प्रकार पारिजात वृक्ष सभी की सम्पत्ति है।[48] उपयुर्क्त प्रसंग की व्याख्या सामूहिक भू-स्वामित्व के रूप में की जा सकती है, परन्तु विष्णु पुराण में ही कुछ ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं जिनसे प्रकट होता है कि राजा ही भूमि का स्वामी था। विष्णु पुराण में एक प्राचीन आख्यान का वर्णन करते हुए, समग्र रूप से राजा को ही भूमि का स्वामी माना गया है। पुराण के अनुसार महाराज पृथु प्राणदान करने के कारण भूमि के

पिता हुए, इसलिए धारिणी को "पृथ्वी" कहा जाता है।[49] श्रीधर ने उपयुर्क्त श्लोक पर भाष्य करते हुए लिखा है कि भूमि को प्राणदान तथा अभयदान प्रदान करने के कारण (पृथु) पिता हुए, प्रमाण स्वरूप स्मृति को उद्धत करते हैं, जहां पर वर्णित है कि जन्म देने वाला, यज्ञोपवीत कराने वाला, अन्नदाता, भय से रक्षा करने वाला तथा विद्या दान देने वाला – ये पाँचों पिता हैं।[50] इसी प्रसंग में पुराण के चतुर्थ अंश के चौबीसवें अध्याय में पृथ्वी द्वारा कहे गये श्लोकों को उद्धत किया जा सकता है। जो-जो राजा लोग यहां हो चुके हैं उन सबकी ऐसी ही कुबुद्धि रही है कि सम्पूर्ण पृथ्वी मेरी ही है और मेरे पीछे यह सदा मेरी सन्तान की रहेगी।[51] पुनः वर्णित है कि जो राजा लोग दूतों के द्वारा अपने शत्रुओं से इस प्रकार कहलाते हैं कि यह पृथ्वी मेरी है, इसे छोड़कर तुरन्त चले जाओ, उन पर मुझे (पृथ्वी) को बड़ी हंसी आती है और उन मूढ़ों पर दया भी आती है।[52]

भू-स्वामित्व पर राजा के दैवी अधिकार सम्बन्धी अवधारणाओं के प्रतिपादन को अलग करके देखा नहीं जा सकता। विष्णु पुराण में राजा के देवत्व सम्बन्धी स्थल अनेकों की संख्या में प्राप्त होते हैं।[53] इस सम्बन्ध में डी.एन. झा का मत है कि मौर्योत्तर काल में न केवल कुषाण राजाओं ने भी राजपद के दैवीकरण में सहायता की, बल्कि इसी विचार ने निजी भू-स्वामित्व पर नियंत्रण लगाया होगा।[54] इस युग की परम्परा में

राजा को विष्णु का अंश वर्णित किया गया है तथा पुनः विष्णु तथा पृथ्वी के सम्बन्धों को स्थापित किया गया है। पृथ्वी को विष्णु की पत्नी के रूप में चित्रित कर सम्भवतः परोक्ष रूप से राजा के भूमि अथवा पृथ्वी पर अधिकारों को, स्थापित करने का प्रयास किया गया। विष्णु पुराण में एक स्थल पर पृथ्वी विष्णु से कहती हैं कि वह उनके द्वारा ही रची गयी है,[55] वह उन्हीं का सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए, लक्ष्मी को पृथ्वी तथा विष्णु को भूधर कहा गया है।[56] भूधर का अर्थ राजा तथा पर्वत दोनों ही होता है।[57] यहां पर ऐसा प्रतीत होता है कि भूधर का प्रयोग राजा के अर्थ से किया गया है। एक अन्य स्थल पर कृष्ण के प्रसंग में ''भूभारतणेच्छया'' का वर्णन भी[58] राजा के भू-स्वामित्व की ओर संकेत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित युग में ऐसी अवधारणा को मान्यता मिल गयी थी, जहां पर कि राजा को भूमि का वास्तविक स्वामी माना जाता था।

कृषि

उत्तर वैदिक काल से ही कृषि को व्यापक महत्व प्रदान किए जाने की परम्परा, परिलक्षित होती है। वैदिक काल में आर्यो के प्रमुख व्यवसाय में से कृषि का प्रमुख स्थान था।[59] ऋग्वेद में सीता से (जोती हुई भूमि) निवेदन किया गया है कि वह अधिक अन्न दे।[60] कौषीतकी ब्राह्मण में अनेक कृषि से सम्बन्धित संस्कारों को वर्णित किया गया है।

जौ को धृत में मिलाकर बोया जाता था, खेतों को बो देने के पश्चात, कृषि उपकरण को लेकर मंचोच्चारण करते हुए खेतों की परिक्रमा की जाती थी।[61] कृषि के विकास और विस्तार की यह प्रक्रिया पौराणिक युग तक चलती रही तथा इसी प्रकार कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय बनी रही।[62] पुराणों में पृथु आख्यान के माध्यम से कृषि विस्तार को प्रकट किया गया है। पृथु के द्वारा केवल पृथ्वी दोहन की बात कही गयी है,[63] परन्तु विष्णु पुराण के आख्यान से कृषि के विस्तार के बारे में ज्ञात होता है। विष्णु पुराण में पृथ्वी पृथु से कहती है कि उसे सर्वत्र समतल कर दिया जाए जिससे वह उत्तमोत्तम औषधियों के बीज रूप दुग्ध रूप को सर्वत्र उत्पन्न कर सके।[64] पृथ्वी के इस अनुरोध के उपरान्त पृथु ने अपने धनुष की कोटि से सैकड़ों हजारों पर्वतों को उखाड़ा[65] तथा अन्न, गोरक्षा, कृषि और व्यापार के क्रम को स्थापित किया।[66] एक अन्य स्थल पर पृथु के राजकाल का वर्णन करते हुए वर्णित किया गया है कि उसके समय में पृथ्वी बिना जोते बोए धान्य पकाने वाली थी, केवल चिन्तन मात्र से ही अन्न सिद्ध हो जाने वाला था, गौएं कामधेनु थीं और पत्ते में मधु भरा रहता था।[67] हर्ष चरित से भी कृषि के विस्तार का पता चलता है, वहां वर्णित है कि किसान कुटुम्ब पालने के लिए व्याकुल रहते थे और उसी चिन्ता में व्याकुल होकर जोर-जोर से आवाज करते हुए केवल कुदाली से फोड़कर परती जमीन तोड़ते और खेत के टुकड़े निकाल लेते। खेत छोटे-छोटे और कहीं-कहीं पर थे। भूमि काश से भरी हुई थी। काली

मिट्टी लोहे की तरह से कड़ी थी। कुदाल ही उनका एक मात्र सहारा थी। जगह-जगह पर काटने से पेड़ों के पड़े हुए ढूढों में फिर से पत्ते निकल गए थे। खेतों में सांवा लहरा रहा था। छुई मुई भी खूब बढ़ आयी थी। खेत बड़ी कठिनाई से जोते जाते थे।[68]

आलोचित काल के अन्य साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इसमें कृषि का विस्तार हुआ था और राज्य के द्वारा परती भूमि को, कृषि योग्य बनाए जाने पर उसे प्रोत्साहित भी किया जाता था। परती भूमि पर खेती करने की अनुमति राज्य प्रदान करता था।[69] इस अभिलेख में वर्णित है कि उत्तर मण्डल में स्थित कान्तेडदक ग्राम में ग्यारह पाटक खिल भूमि पांच खण्डों में भोगे जाने वाले अग्रहार के समान ताम्रपट्ट द्वारा दान कर दी गयी।[70] इसी प्रकार नन्दपुर के ताम्रपत्र लेख में आद्यस्तम्ब अर्थात मूल झाड़ियों से ढकी हुई, ऐसी भूमि जिस पर खेती नहीं की गयी, समुदयवाह्य अर्थात राज्य को आय न देने वाली तथा खिल (बंजर) भूमि को दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[71] तिपरा के लेख से ज्ञात होता है कि राज्य ने ब्राम्हणों को जंगल में खेती करने के लिए भूमि प्रदान किया था।[72] जब कृषि योग्य कृषि खण्ड दान में दिया जाता था तो स्पष्ट आदेश देता था कि कोई व्यक्ति अनुदानग्राही के कृषि के अधिकार में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालेगा।[73] शालादित्य सप्तम के अलीना ताम्रपत्र लेख में भी, इसी निर्देश को दुहराया गया

है।[74] विशेषतः धार्मिक कृत्यों के सम्पादनार्थ, भूमिदान में अथवा अन्य प्रयोजनों से इस बात का ध्यान रखा जाता था कि कृषक गृहस्थों के कृषि कर्म का विरोध न होता हो।[75] कृषि का विस्तार इतना हो गया था कि यहां तक कि ऋषि लोग भी अपने आश्रमों के निकट भूमि से अपने निर्वाह के लिए अन्न उपजाते थे।[76]

परम्परानुसार वैश्य वर्ग ही कृषि का कर्म करता था।[77] परन्तु आलोचित पुराण के काल में कृषकों का एक अलग से वर्ग बन गया था, जिसमें परम्परागत वैश्यों के अतिरिक्त शूद्र भी सम्मिलित थे। पुराणों में शूद्रों के लिए भी कृषि कर्म वर्णित किया गया है।[78] विष्णु पुराण में एक स्थल पर श्रीकृष्ण स्वयं कहते है कि वार्ता नाम की विद्या कृषि, वाणिज्य और पशुपालन इन तीन वृत्तियों की आश्रयभूता है। वार्ता के इन तीन भेदों में से कृषि किसानों की, वाणिज्य व्यापारियों की और गो-पालन हम लोगों (गोपों) की उत्तम वृत्ति है।[79] एक अन्य स्थल पर 'कृषकों' का उल्लेख प्राप्त होता है।[80] विष्णु पुराण स्पष्ट रूप से कृषि कर्म कर्म को कृषकों की आजीविका वर्णित करता है।[81] नन्दपुर के ताम्रपत्र लेख में भी स्पष्ट रूप से कृषकों का उल्लेख एक वर्ग के रूप में प्राप्त होता है।[82] कृषकों का एक वर्ग के रूप में अलग से उल्लेख इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि कृषि कार्य में विशिष्टता रखने वाले एक पृथक वर्ग का उदय हो गया था।

विष्णु पुराण में हल, लागंल और सीर आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में लांगल शब्द का उल्लेख उस स्थान पर प्राप्त होता है, जहां पर शेषनाग का वर्णन प्राप्त होता है। ह्स्वरोमा के पुत्र सीरध्वज नामक राजा के द्वारा यज्ञभूमि जोतने का उल्लेख भी पुराण में प्राप्त होता है।[83] लांगल, हल और सीर एक दूसरे के पर्यायवाची हैं और क्षेत्र कर्षण के साधन का प्रतीक भी। कृषक सीर का पूजनोत्सव भी करते थे।[84] क्षेत्र अथवा पृथ्वी तथा सीर, लांगल और हल के सम्बन्धों को प्राचीन साहित्य में एक अलग तरीके से व्याख्यापित किया गया है।[85] सस्योपादन तथा सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया की एकरूपता के कारण भूमि और स्त्री में समानता दिखाई गयी है।[86] भूमि से सस्योत्पादन और स्त्री से सन्तानोत्पत्ति के मध्य स्थापित यह तादात्म्य संस्कृत के 'क्षेत्र' शब्द से और भी स्पष्ट होता है। क्षेत्र शब्द का तात्पर्य भूमि, पुंसवन शक्ति सम्पन्न गर्भ तथा पत्नी से है। यूनानी शब्द 'एरोलॉय' का तात्पर्य सन्तानोत्पत्ति तथा 'एरोत्राय' का तात्पर्य सृजन करने वाले अंग से है।[87] भूमि और स्त्री का यह तादात्म्य न केवल मनोवैज्ञानिक है वरन् इसके पीछे आनुष्ठानिक एवं व्यवहारिक आधार भी है। इसलिए विवह संस्कार के समय सम्पन्न होने वाले प्रतीकात्मक अथवा वास्तविक हल जोतने तथा धान्य का विशेष महत्व है।[88] जनक द्वारा संतानोत्पत्ति के लिए हल चलाना,[89] इसी परम्परा के अनुपालन की ओर संकेत करता है। विष्णु पुराण में भी इस परम्परा का उल्लेख ह्स्वारोमा के पुत्र सीरध्वज के

प्रसंग में प्राप्त होता है। जिसने पुत्र की प्राप्ति के लिए यज्ञ भूमि को जोता था।[90]

राज्य और कृषि से सम्बन्धों का परिचय, राजा के लिए क्षेत्रपाल शब्द के प्रयोग से होता है। वायु, ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य तीनों पुराणों में वैन्य पृथु के गुणों का विवेचन करते हुए, उन्हें क्षेत्रपाल शब्द से विशिष्ट किया गया है। इसकी स्वाभिवाक व्यंजना यही है कि राजा के संरक्षण को कृषि विकास के लिए अपेक्षित माना गया है।[91] उत्तर वैदिक काल में क्षेत्रपति खेतों का देवता था।[92] पुराणों का क्षेत्रपाल के रूप में राजा का वर्णन पुरातन परम्परा के अनुकूल ही है। क्योंकि आलोचित काल में राजा को देवता का अंश मान लिया गया था। राजा और कृषि में प्रगाढ़ सम्बन्ध के कारण, खाली पड़ी भूमि के अधिग्रहण को राज्य द्वारा प्रोत्साहन प्रदान किया गया।[93] यही नहीं चूंकि आलोचित काल में राज्य की आय का एक बड़ा हिस्सा कृषि उत्पाद से आता था, अतः स्मृतियों ने किसानों के हितों के संरक्षण की बात उठायी। बृहस्पति कृषि तथा फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले के लिए दण्ड का विधान करते हैं।[94] भारूचि भी अकारण खेती और वनों को नष्ट करने को महान अपराध वर्णित करते हैं।[95]

ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित युग में धान ही लोगों का प्रमुख आहार था। विष्णु पुराण में इन अनाजों का उल्लेख प्रसंगवश ही

किया गया है जो स्वाभाविक है। धान के बारे में वर्णित है कि धान के बीज में मूल, नाल, पत्ते, अंकुर, तना, कोष, पुष्प, क्षीर, तण्डुल, तुष और कण सभी रहते हैं तथा अंकुरोत्पत्ति की हेतु भूमि एवं जल आदि सामग्री के प्राप्त होने पर प्रकट हो जाते हैं।[96] चरक संहिता में अन्नपाल विषयक अध्याय में पन्द्रह प्रकार के धानों यथा (1) रक्तशालि (छिलका सहित लाल धान), (2) महाशालि, (3) उत्खात (जो उखाड़ कर पुनः लगाया जाता था) , (4) शकुनाहृत (द्वीपान्तरात् समानीतो गरुडेन् महात्मना। शुकनाहृतः स शालिः स्याम्दरुडापरनामकः) यह उज्जैन में होता था। (5) तूर्णक (6) दीर्घशूक इसके बड़े-बड़े शूक (टूण) होते थे। (7) गौरधान्य (सफेद धान) (8) पाण्जु धान्य (9) लांगुल (10) सुगन्धिक (बासमती) (11) लोहवाल (12) सरिवा (13) प्रमोदक (14) पतंग (15) तपनीय (पीलाधान)।[97] मत्स्य पुराण में अठारह प्रकार के धानों का उल्लेख प्राप्त होता है।[98] अपरार्क ने इनका वर्णन इस प्रकार से किया है, सॉवा, धान, जौ, मूंग, तिल, अणु (कंगनी), उड़द, गेहूँ, कोदो, कुल्थी, सतीनक (छोटी मटर), सेम, आढ़की (अरहर), मयुष्ट (उजली मटर), चना, कलाय, मटर, प्रियगुं (सरसों या राई) और मसूर। कुछ स्थानों पर अलसी और नीवार का उल्लेख प्राप्त होता है।[99] यद्यपि कि जौ और गेहूँ का प्रयोग होता था, परन्तु इसे धार्मिक महत्व प्राप्त नहीं हुआ प्रतीत होता है, अग्नि पुराण में वर्णित है कि गेहूं, जो और जमा हुआ दूध नहीं खाना चाहिए।[100]

सिंचाई व्यवस्था

सिंचाई से सम्बन्धित उदाहरण जो विष्णु पुराण में प्राप्त होते हैं उनसे किसी निश्चित उन्नतिशील सिंचाई व्यवस्था के बारे में ज्ञात नहीं होता है। लोग वर्षा पर ही पूर्ण रूप से आश्रित थे। पुराण में वर्णित है कि वृष्टि से ही समस्त सृष्टि का पोषण और सम्पूर्ण देव मनुष्यादि प्राणियों की पुष्टि होती है।[101] जो ज मेघों द्वारा बरसाया जाता है वह प्राणियों के जीवन के लिए अमृत रूप होता है और औषधियों का पोषण करता है।[102] उस वृष्टि के जल से परम वृद्धि को प्राप्त होकर समस्त औषधियों और फल पकने पर सूख जाने वाले (गोधूम, यव आदि अन्न) प्रजावर्ग के शरीर की उत्पत्ति एवं पोषण आदि में साधक होते हैं।[103] पुराण का स्पष्ट मत है कि सम्पूर्ण यज्ञ, वेद, ब्राह्मणादि वर्ण, समस्त देव समूह और प्राणिगण वृष्टि के ही आश्रित हैं, अन्न को उत्पन्न करने वाली वृष्टि ही इन सबको धारण करती है तथा उस वृष्टि की उत्पत्ति सूर्य से होती है।[104] पुराण में मेघ और जल का स्वामी देवराज इन्द्र को माना गया है, उसकी प्रेरणा से ही मेघगण जल रूपी इसकी वर्षा करते हं। समस्त देहधारी उस वर्षा से उत्पन्न अन्न को ही वर्तते हैं तथा उसी को उपयोग में लाते हुए देवताओं को भी तृप्ति करते हैं। वर्षा से बढ़े हुए अन्न से ही तृप्त होकर ये गौएं तुष्ट और पुष्ट होकर वत्सवती एवं दूध देने वाली होती हैं। पुराण में स्पष्ट रूप से वर्णित है कि जिस भूमि पर

बरसने वाले मेघ दिखायी देते हैं उस पर कभी अन्न और तृण का अभाव नहीं होता और न कभी वहां के लोग भूखे रहते ही देखे जाते हैं।[105]

अकालः

अनावृष्टि और दुर्भिक्ष से लोगों की परेशानी निश्चित रूप से बढ़ जाती होगी। दशकुमार चरित में त्रिगर्त जनपद में पड़े अकाल और उससे उत्पन्न अवस्था का एक मार्मिक चित्रण खींचा गया है। उनके अनुसार अन्न फोका और झोलों भरा निकला, जड़ी बूटियॉ निष्फल और नीरस पैदा हुई, पेड़ पौधों पर फल आने बन्द हो गए, तालाबों में केवल दलदल रह गई, झरने बहने बन्द हो गए, कन्दमूल फल मिलना कठिन हो गया, बस्तियों में कथा वार्ता बन्द हो गयी, धार्मिक कृत्य और उत्सव बन्द हो गए, चोर डकैत बढ़ गए, लोग एक दूसरे को खाने लग गए, बालू से सफेद नरमुण्ड चारों तरफ बिखरे हुए दिखाई देने लग गए, भूखे कौए चारों तरफ मंडराने लगे, नगर ग्राम कस्बे और छोटी-छोटी बस्तियां सूनी पड़ गयी थीं।[106]

विष्णु पुराण में वर्णित है कि स्यमन्तकमणि के प्रभाव से राष्ट्र में रोग, अनावृष्टि तथा सर्प, अग्नि, चोर अथवा दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं रहता था।[107] ऐसा प्रतीत होता है कि जनता के कष्टों का मूल कारण उपयुर्क्त आपदाएं ही थीं।[108] अक्रूर के पिता, स्वफल्क के बारे में वर्णित है कि वे जहॉ-जहॉ रहते थे वहां-वहां दुर्भिक्ष, महामारी और

अनावृष्टि आदि उपद्रव कभी नहीं उठते थे।[109] विष्णु पुराण के ही वृतान्त से पता चलता है कि एक बार काशीराज के देश में अनावृष्टि हुई थी।[110] विष्णु पुराण में कलियुग का वर्णन करते हुए एक ऐसी अवस्था का चित्रण किया गया है जब सम्पूर्ण प्रजा क्षुधा की व्यथा से व्याकुल हो प्रायः अनावृष्टि के भय से सदा आकाश की ओर दृष्टि लगाए रहेगी, तथा अन्न का अभाव होने से मनुष्य केवल कन्द, मूल और फल आदि के सहारे ही रहेंगे तथा अनावृष्टि के कारण दुःखी होकर आत्मघात करेंगे।[111] मत्स्य पुराण में भी एक ऐसी ही अवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है, जब अनावृष्टि के कारण लोगों का कष्ट बढ़ गया था।[112] मत्स्य पुराण में अन्यत्र वर्णित है कि लम्बे समय तक क्षुधा पीड़ित होने के कारण सभी लोग सर्वत्र पशुओं, पक्षियों और मछलियों को मारकर खा जाते हैं। इस प्रकार जब सभी मछली, पशु, पक्षी मारकर निःशेष कर दिए जाते हैं, तब पुनः लोग कन्द मूल खोदकर खाने लगते हैं।[113] कूर्म पुराण भी त्रेता के अन्त में एक अराजतका की स्थिति का वर्णन करता है कि जहाँ तृष्णा और लालच बढ़ गया था और लोगों ने नदियों, पेड़ों तथा जमीन पर कब्जा कर लिया था तथा सम्पत्ति तथा दूसरों की स्त्रियां हड़प ली थीं।[114] पुराण पुनः दुर्भिक्ष एवं अकाल का वर्णन करता है।[115] जिससे बीमारी, मृत्यु तथा दुर्भाग्य आदि तरह-तरह की आपदाएं आ गयी थीं।

विष्टिः

विष्णु पुराण में जड़-भरत के प्रसंग में "विष्टि" अथवा "बेगार" का उल्लेख प्राप्त होता है। विद्वानों ने विष्टि का अर्थ बेगार (Forced Labour) लगाया है।[116] विष्णु पुराण में जड़ भरत के प्रसंग में वर्णित है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त भाई बन्धु उनका सड़े-गले अन्न से पोषण करते हुए, उनसे खेती बारी का कार्य कराने लगे, वे बैल के समान पुष्ट शरीर वाले और कर्म में जड़वत् निश्चेष्ट थे, अतः वे केवल आधार मात्र से ही लोगों का यंत्र बन जाते थे।[117] एक बार सौवीरराज कहीं जा रहे थे, उस समय उनके बेगारियों ने उन्हें बेगार योग्य समझा[118] तथा राजसेवकों ने भी भस्म में छिपे हुए अग्नि का समान उन महात्मा का रंग ढंग देखकर उन्हें बेगार के योग्य समझा।[119] बेगार के योग्य समझ कर उन्हें पालकी ढोने के कार्य में लगा दिया।[120] आलोचित पुराण में विष्टि का यह उल्लेख महत्वपूर्ण है। श्रीधर ने विष्टि पर भाष्य करते हुए इसे बिना पैसे अथवा बिना मूल्य का श्रम वर्णित किया है।[121] अर्थात् ऐसा श्रम जिसके सम्पादन करने से, उस श्रम के बदले में मूल्य अथवा अर्थ की प्राप्त नहीं होती थी। बेगार की प्रथा मौर्य काल से ही चली आ रही थी, आगे चलकर बेगार ही वैश्य और शूद्र की पृथकता का मानदण्ड बन गया।[122] परन्तु आलोचित में सामन्त प्रथा के विकास के साथ-साथ इस प्रथा की सघनता भी बढ़ गयी प्रतीत होती है। वराहमिहिर जिनका

काल पांचवी शताब्दी का अन्तिम दशक अथवा छठवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध है, के ग्रन्थ में भी इस प्रथा का उल्लेख प्राप्त होता है।[123] वात्सायन के कामसूत्र में भी विष्टि का उल्लेख प्राप्त होता है।[124] श्री यादव के अनुसार कृषि के क्षेत्र में बेगार के प्रयोग का आरम्भ चौथी पांचवीं शताब्दी से हो गया था।[125] यादव इस विषय में सीधे प्रामाणिक उदाहरण के रूप में भागवत पुराण का उल्लेख करते हैं।[126] पुराण के अनुसार कोई भी भरत से काम कराना चाहता था तो वह उसकी इच्छानुसार कार्य कर देते थे। बेगार के रूप में, मजदूरी के रूप में मांगने पर अथवा बिना मांगे तो भी मिल जाता था, अच्छा या बुरा उसी को जीभ का स्वाद न देखते हुए खा लेते थे।[127] उनके भाई उन्हें चावल की कनी, भूसी, खली, घुनी हुई उड़द अथवा बर्तनों में लगी हुई अन्न की खुरचन जो भी दे देते थे, उसे वह अमृत के समान खा लेते थे।[128.]

विष्णु पुराण सर्वमान्य रूप से भागवत की अपेक्षा एक प्राचीन पुराण है। दोनों ही पुराणों के वर्णन में प्रचुर साम्यता है। अतः श्री यादव का मत कि कृषि में बेगार का प्रयोग चौथी या पांचवीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था, उचित प्रतीत होता है। पुराण किसी मान्यता का तभी उल्लेख करते हैं जबकि वह मान्यता परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती थी। आलोचित पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि बेगारियों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। भरत सूखे घास-फूस और पत्तों से अपने शरीर का

पोषण करते थे।[129] भोजन के रूप में जो भी उन्हें यथा कुल्माष, धान, शाक, जंगली फल अथवा कण आदि जो कुछ भक्ष्य मिल जाता था उसे थोड़े को भी बहुत मानकर खा लेते थे और अपना कालक्षेप करते थे।[130] विल्सन ने 'कालसंयमम्' को दैहिक कष्ट अथवा अवमानना की स्थिति के रूप में वर्णित किया है जो एक काल विशेष तक ही रहती है। ऐसी अवस्था में शरीर को जीवित रखने के लिए, भोजन तथा जलादि की तुरन्त आवश्यकता होती है।[131] दूसरे बेगारियों का एक वर्ग होता था और इसमें किसी भी व्यक्ति को पकड़ कर बेगार लिया जा सकता था।[132] तीसरे वह दासत्य से बिल्कुल अलग था तथा चौथे वह किसी विशेष प्रयोजन वश या निश्चित उद्देश्य अथवा कार्य के लिए जाता था और कार्य की समाप्ति के उपरान्त, व्यक्ति बेगार से मुक्त हो जाता था, यहां पर दासत्व ऐसी बाध्यता नहीं थी। पांचवें विष्टि कर्ता से खूब जमकर श्रम कराया जाता था, इस विषय में कोई रियायत नहीं की जाती थी। आलोचित पुराण में सौवीर नरेश भरत से कहता है कि तूने (भरत ने) शिविका को थोड़ी दूर ही वहन किया है, क्या इतने में ही थक गया, तू (भरत) वैसे तो बहुत मोट-मुष्टण्डा दिखाई देता है, फिर क्या तुझसे (भरत) इतना भी श्रम सहा नहीं जाता।[133]

पशु–पालनः

कृषि से ही कुछ अर्थों में पशु–पालन भी सम्बन्धित था, इसीलिए कृषि और वाणिज्य के साथ पशु पालन का वैश्यों की जीविका का आधार वर्णित किया गया है।[134] ऐसा प्रतीत होता है कि आलोचित काल में जिस प्रकार कृषि से वैश्यों का सम्बन्ध कम रह गया था, ठीक उसी प्रकार पशु पालकों का वैश्यों से अलग एक वर्ग बन गया था। इस प्रसंग में श्रीकृष्ण का कथन उल्लेखनीय है कि हम न तो कृषक हैं और न व्यापारी, हमारे देवता तो गौएं ही हैं, क्योंकि हम वनचर हैं।[135] इसी प्रसंग में पुनः वर्णित है कि वार्ता के तीनों भेदों में से कृषि किसानों की, वाणिज्य व्यापारियों की तथा गोपालन गोपजनों की उत्तम वृत्ति है।[136] महाभारत में विभाण्डक ऋषि द्वारा समृद्धिशाली गोष्ठों में गोपजनों द्वारा, राज्य के समान सत्कार देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[137] पशु पालन से सम्बन्धित लोगों ने अलग से गिरियज्ञ (पर्वत अथवा गोवर्धन पूजा) अथवा गोयज्ञ (गो–पूजा) का आरम्भ कर दिया था। इस सम्प्रदाय में गो तथा पर्वत को ही देवता मानकर, उसकी पूजा की जाती थी।[138] जिस प्रकार ब्राह्मण लोग मंत्र यज्ञ तथा कृषकगण सीर यज्ञ (हल पूजा) करते हैं, अतः उसी प्रकार पर्वतों और वनों में रहने वाले गोपगण गिरियज्ञ और गो यज्ञ करते थे।[139] इस यज्ञ में विधिपूर्वक पशु बलि के साथ, पर्वतराज को दही, खीर तथा मांस भी समर्पित किया जाता था।[140] इस उत्सव के अन्त में

ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था तथा पुष्पार्चित गोंआ तथा सजल जलधर के समान गर्जन वाले साड़ों द्वारा गोवर्धन की परिक्रमा करायी जाती थी।[141]

आर्य आरम्भ से ही पशु पालन से जुड़े हुए थे, पशु पालन ही उनकी जीविका का मुख्य आधार था, परन्तु उन्होंने 'गो' से सम्बन्धित किसी सम्प्रदाय को प्रचलित किया था, इसका उदाहरण नहीं प्राप्त होता है। अशोक ने स्थापत्य में प्रमुखता के साथ बैलों की आकृति के अंकन को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। रामपुरवा का बैल,[142] तथा सारनाथ के शीर्ष पालक पर उत्कीर्ण साड़ की आकृति, तत्कालीन समाज में पशुओं (गो एवं वृषभ) के महत्व को प्रकट करती है। इसी प्रसंग में वत्स जनपद (कौशाम्बी) के मध शासकों की मुद्राओं का उल्लेख किया जा सकता है, जिनके पृष्ठ तल पर अनिवार्यतः वत्स (बैल) का अंकन प्राप्त होता है।[143] एलन ने वीरसेन नामक राजा के कुछ स्वर्ण मुद्राओं का उल्लेख किया है जिनके पृष्ठ भाग पर बैल की आकृति उत्कीर्ण है।[144] मिहिर ने भी कुछ ऐसी मुद्राओं का प्रचलन कराया था जिनके मुख्य भाग पर राजा का चित्रांकन एवं उसका नाम तथा पृष्ठ भाग पर बैल की आकृति अंकित है तथा मुद्रा पर 'जयतु वृषः' उत्कीर्ण है।[145] न्यूमैस्मेटिक क्रानिकल में पंजाब में शाही वंश की मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, जिसमें घुड़सवार और वृषभ का अंकन किया गया है।[146] इससे यही प्रतीत होता है कि

वृषभांकन की परम्परा मध्यकाल तक चलती रही। दक्षिण भारत में शांकलायन वंश के चण्डदेवर्मन (395-450 ई0) नामक शासक ने वृषभांकित ताम्र मुद्राओं को प्रचलित करवाया था।[147] पाण्ड्य शासकों ने भी वृषभांकित ताम्र मुद्राओं का प्रचलन किया था।[148]

शिल्प एवं उद्योगः

शिल्पियों के लिए अलग से व्यवहृत होने वाला शब्द 'कारू' था। मनु स्मृति में इस वर्ग के लिए कारू[149] तथा कारुक[150] दोनों ही शब्द प्राप्त होते हैं। विष्णु पुराण में देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा को सहस्त्रों शिल्पों का कर्ता माना गया है।[151] विश्वकर्मा को समस्त शिल्पियों में श्रेष्ठ तथा उनके द्वारा आविष्कृत शिल्प विधा को बहुत से व्यक्तियों के जीवन निर्वहन का आधार वर्णित किया है।[152] पुराण का शिल्पियों से विश्वकर्मा को सम्बन्धित करना तथा शिल्प को बहुत से व्यक्तियों के जीवन निर्वहन का आधार वर्णित करना, शिल्प के विकास को ही प्रदर्शित करता है। वायु पुराण में भी शिल्प तथा शिल्पी को विश्वकर्मा से सम्बन्धित करते हुए, उसे मनुष्यों की जीविका का आधार वर्णित किया गया है।[153]

विष्णु पुराण में एक स्थल पर प्राप्त विवरण से तेल निर्माण उद्योग के बारे में पता चलता है। एक प्रसंग में विवृत्त है कि तिल में तेल स्वाभाविक करता है फिर भी वायु रूपी रश्मियां उसे घुमाती रहती

है। यह क्रिया तेल संपीड़न के समान होती है जिसके लिए स्वयं घूमता हुआ भी चक्का घुमाया जाता है।[154] तेल उद्योग काफी उन्नतिशील था। काली और सफेद सरसों,[155] तिल,[156] अलसी[157] और इंगुदी[158] का तेल निकाला जाता था। इंगुद का तेल दीपक जलाने के अतिरिक्त फुंसी फोड़ों[159] की चिकित्सा में काम लाया जाता था।[160] तेलियों की अपनी श्रेणियां थी। तैलियों की श्रेणियों के पास व्यक्ति, अपनी धनराशि को जमा कर देता था और जमा की गयी धनराशि का ब्याज की आय से, श्रेणी मन्दिर में दीपक जलाने का कार्य करती थी।[161] ब्राह्मण धर्म में दीप दान की महिमा वर्णित करते हुए, दीप प्रदान करने वाले को स्वर्ण का अधिकारी वर्णित किया गया है।[162] दीप जलाने के इस महत्वपूर्ण कार्य को तैलिकों की श्रेणियों ही करती थी। तैलिक श्रेणियां कर का भुगतान ''तेल'' के रूप में करती थीं।[163]

विष्णु पुराण में एक स्थल पर विष्णु पुराण में विविध स्वरूपों एवं रूपों की व्याख्या करते हुए विवित है कि जिस प्रकार सुवर्ण भेद रहित और एक होकर भी कटक, मुकुट तथा कर्णिका आदि के भेद से नाना रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही हरि का देवता, मनुष्य और पशु आदि नाना विधि कलानाओं से निरूपित किया जाता है।[164] पुराण का यह कथन आभूषण निर्माण उद्योग की ओर संकेत करता है। एक अन्य स्थल पर विष्णु पुराण में सुवर्ण, मणि, रत्नादि अलंकारार्थ प्रयोजनीय

उपकरणों के अभाव में, मात्र केश प्रसाधन कलियुगन हीन व्यवस्था का लक्षण घोषित है।[165] ऐसा प्रतीत होता है कि आभूषणों का भी सभी वर्गो में प्रयोग के कारण, इस शिल्प का विकास हुआ था। पुराणों में वर्णित है कि लक्ष्मी जब समुद्र से बाहर निकलीं तब विश्वकर्मा ने उनको दिव्य आभूषण प्रदान किये।[166] विष्णु पुराण में मुकुट,[167] अपीड़,[168] कुण्डल,[169] कौत्सुभ मणि,[170] वलय,[171] कटक,[172], केयूर,[173] मुद्रिका[174] आदि आभूषणों का उल्लेख प्राप्त होता है। किरीट सिर पर धारण करने वाला आभूषण था, देवता एवं चक्रवर्ती राजा इसे धारण करते थे, मुकुट भी राजा एवं सामन्तों द्वारा सिर पर धारण किया जाना वाला आभूषण था। अजन्ता के भित्तिचित्रों में राजाओं तथा राजपुरूषों को मुकुटालंकृत प्रदर्शित किया गया है।[175] स्त्री एवं पुरूष दोनों का ही कर्ण वेध संस्कार होता था।

अतः कुण्डल को दोनों वर्णो तथा समाज के सभी वर्णो द्वारा धारण किया जाता था।[176] अमरकोष के अनुसार कानों को लपेट कर इसको धारण करते थे।[177] जैन पुराणों में मणि कुण्डल, रत्न कुण्डल, मकराकृत कुण्डल, कुण्डल, मकरांकित कुण्डल तथा रत्न कुण्डल आदि विभिन्न प्रकार के कुण्डलों के भेदों को पता चलता है।[178] इसी प्रकार अन्य साक्ष्यों से पता चलता है कि हार कई प्रकार के होते थे तथा 505 लड़ियों वाले हार को विजयछन्दहार कहा जाता था।[179] जिसे अर्द्धचक्रवर्ती और बलभद्र आदि पुरूषों द्वारा प्रयुक्त किया जाता था।[180] जिसमें 108

लड़ियां होती थी, उसे हार कहा जाता था।[181] 64 लड़ियों वाले को अर्द्धहार[182] तथा 54 लड़ियों वाले को रश्मिहार,[183] सत्ताइस लड़ियों वाले को नक्षममालाहार,[184] चौबीस लड़ियों वाले को अर्द्धगुच्छहार,[185] बीस लड़ियों वाले को माणयहार[186] तथा दस लड़ियों वाले को अर्द्धभाणवहार[187] कहा जाता था। नेमिचन्द्र शास्त्री ने हारों के विभिन्न 55 प्रकारों का वर्णन किया है।[188]

स्वर्णकारों तथा आभूषण बनाने वालों का सर्वप्रथम उल्लेख बाजसनेय संहिता[189] में प्राप्त होता है जो इस उद्योग की प्रचीनता का परिचायक है। कल्याणी दास ने[190] अनेक ऐसे अभिलेखों को उद्धत किया है जो स्वर्णकारों तथा उसकी गतिविधियों से सम्बन्धित है। विभिन्न अवसरों में यहां तक कि ''बलि'' के अवसर पर भी स्वर्ण का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता था।[191] अश्वघोष ने स्वर्ण को शुद्ध करने तथा इससे विभिन्न प्रकार के आभूषणों के निर्माण का वर्णन किया है।[192] सोना संभवतः सबसे कीमती पण्य अथवा धातु था, इसकी चोरी को महापातक माना गया है।[193] महापातक में ब्रह्म हत्या, सुरापान, गुरूतल्पगमन तथा ब्राह्मण से स्वर्ण की चोरी आते थे। मनु सामान्य चोरी की ही श्रेणी में स्वर्ण की चोरी रखते हैं।[194] विष्णु पुराण में भी स्वर्ण चोरी के प्रति कठोर रूख अपनाया गया है। पुराण के अनुसार स्वर्ण की चोरी करने वाला सूकर नरक में जाता है।[195] पूर्व मध्यकालीन स्मृतियों में भी स्वर्ण चोरी

के प्रति कठोर रुा अपनाया गया है।[196] इसकी व्याख्या सुवर्ण में आयी कमी के आलोक में की जा सकती है, रोम के साथ व्यापार में कमी तथा समुद्र यात्रा पर स्मृतियों द्वारा प्रतिबन्ध इसका एक कारण था।[197] कुषाण तथा गुप्त राजाओं ने बहुत से स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन कराया था। इन मुद्राओं का प्रचलन भारत तथा मध्य एवं पश्चिमी एशिया, इजिप्ट एवं रोम के मध्य प्रचलित आपसी व्यापारिक सम्बन्धों के लिए किया गया था। पूर्व मध्यकाल में स्वर्ण मुद्राओं की कमी विदेशी व्यापार में कमी की ओर संकेत करती है।[198]

आभूषण उद्योग के साथ एक और उद्योग जुड़ा हुआ था, वह था कीमती पत्थरों का, जिनका वर्णन पुराणों में मणियों के रूप में हुआ है। विष्णु पुराण में आभूषणों की अक्षीणता हेतु लक्ष्मी से प्रार्थना की गयी है।[199] पुराण में एक अन्य स्थल पर सुवर्ण, मणि तथा रत्न आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[200] इसके अतिरिक्त विष्णु को कौस्तुम[201] तथा स्यमन्तक[202] नामक मणि को धारण किया हुआ वर्णित किया गया है। महंगे और साधारण किस्म के रत्नों का प्रयोग, रत्न जड़ित आभूषणों तथा बर्तनों के निर्माण में किया जाता था।[203] दण्डी ने उल्लेख किया है कि धान की भूसी को चमकाने के काम में लाया जाता था।[204] वराह मिहिर ने हीरों, माणिक्य तथा मोतियों के गुण तथा उनके महत्व को वर्णित

किया है।[205] आलोचित काल के ग्रन्थों में माणिक्य,[206] नीलम,[207] हीरा,[208] वैदूर्य,[209] पन्ना,[210] फिरोजा[211] तथा स्फटिक[212] का उल्लेख प्राप्त होता है।

आभूषण उद्योग की ही भांति, वस्त्रोद्योग भी उन्नति पर था। साधारणतः तीन प्रकार के वस्त्र समाज में प्रचलित थे, पहला मृग चर्म तथा वल्कल जो गरीबों एवं श्रमिकों द्वारा प्रयुक्त होता था, दूसरा सूती वस्त्र जिसका प्रयोग सामान्य जन करते थे तथा तीसरा क्षीम अथवा रेशम था जो राजाओं तथा सामन्तों द्वारा प्रयुक्त होता था। विष्णु पुराण में वर्णित है कि यज्ञानुष्ठान पर केशिध्वज ने मृग चर्म धारण किया था।[213] वायु पुराण में समुद्रशायी विष्णु का वस्त्र कृष्ण मृग चर्म बताया गया है।[214] मत्स्य पुराण भी कलियुग के संदर्भ में मृग चर्म वस्त्र का उल्लेख करता है।[215] कलियुग के संदर्भ में विष्णु पुराण वल्कल-बहुल वस्त्रों का उल्लेख करता है।[216] एक अन्य स्थल पर विहित है कि वानप्रस्थी को अपना परिधान और उत्तरीय वन सुलभ चर्म, कुश और काश से बनाना चाहिए।[217] ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ रूढ़िवादी और परम्परावादी व्यक्तियों द्वारा मृग चर्म आदि से बने वस्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा होगा, परन्तु इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि ठंडे प्रदेशों में, बेगारी वाले मजदूर, निम्न वर्ग तथा आदिवासियों द्वारा इनका प्रयोग किया जाता रहा होगा। इत्सिंग काश्मीर से लेकर मध्य एशिया तक के लोगों ऊन एवं चमड़े से बने वस्त्रों वाला वर्णित करता है।[218]

विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण को पीताम्बर धारण किए, वर्णित किया गया है।[219] इसी प्रकार बलराम के प्रसंग में उन्हें नीले वस्त्रों को धारण करने वाला वर्णित किया गया है।[220] यद्यपि कि विष्णु पुराण में रेशम का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वे वस्त्र रेशम के बनते थे। पुराण में एक स्थल पर पीताम्बर को उज्जवल[221] वर्णित किया गया है तथा दूसरे स्थल पर निर्मल।[222] निश्चित रूप से यह रेशम से बना होगा क्योंकि जिस चमक और निर्मलता का विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह रेशम का परिचायक है।

मृदभाण्ड अथवा कुम्भकारी उद्योग, प्राचीन भारत के अनेक लघु उद्योगों में से एक प्रमुख उद्योग था, इस बात का प्रमाण, उत्खननों में प्राप्त साक्ष्य तथा साहित्यिक साक्ष्य, इस उद्योग की समृद्धि की ओर संकेत करते हैं। जातकों से पता चलता है कि कुछ ऐसे कुम्हार थे जो केवल राजभवन के लिए ही बर्तन का निर्माण करते थे और जिन्होंने अनेकों व्यक्तियों को अपनी सहायता के लिए लगा रखा था।[223] कुम्भकारों की अपनी श्रेणी थी, एक अभिलेख से इस उद्योग की समृद्धि और उन्नति के बारे में पता चलता है।[224] विष्णु पुराण में कच्चे घड़ों अथवा ईंटों को पकाने वालों का उल्लेख प्राप्त होता हे।[225] कुम्भकारी से दो वस्तुएं जुड़ी हुई थी पहला दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाले बर्तन इत्यादि तथा दूसरा मृण मूर्तियां। जहां तक पहले वर्ग का प्रश्न है, यह उद्योग आलोचित युग

में समृद्ध प्रतीत होता है। अहिछत्रा में हुए उत्खनन में दैनिक जीवन में प्रयोग आने वाली बहुत सी वस्तुएं दवात, लैम्प, तश्तरी, खाना पकाने वाले बर्तन तथा लोटा इत्यादि जो कि प्राचीन काल एवं पूर्व मध्यकाल से सम्बन्धित प्राप्त हुई हैं,[226] मृणमूर्तियों के बारे में देवांगना देसाई का मत है कि गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में व्यापार एवं वाणिज्य के पतन के कारण लोगों की क्रय शक्ति में ह्रास हुआ था, जिसके फलस्वरूप "टेराकोटा" उद्योग में पतन हो गया था।[227] नगरों के पतन के फलस्वरूप, इस उद्योग से सम्बन्धित व्यक्ति गांवों की ओर चले गये थे तथा ग्राम्य भृत्य बन गये थे जो अपना दाय, उत्पाद के रूप में पाते थे नगद नहीं। ऐसी स्थिति में वे नगर के लिए नहीं अपितु ग्राम के लिए उत्पादन करते थे।[228] ऐसी स्थिति में बाजार के लिए विशेष उत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता है।[229] इस विषय में उल्लेखनीय है कि यह उद्योग आर्थिक रूप से निम्न वर्ग से सम्बन्धित था, अतः शहरों तथा व्यापार के पतन से इस पर उतना असर नहीं पड़ा होगा, जितना कि विद्वानों ने अवधारणा व्यक्त की है। मृणमूर्तियों तथा बर्तन उद्योग अपनी सहज उपलब्धता तथा सस्तेपन के कारण सामान्य जन में बहुत अधिक लोकप्रिय था।[230]

व्यापार एवम् वाणिज्यः

व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्धित स्थलों का उल्लेख आलोचित पुराण में अंशतः एवम् प्रसंगतः प्राप्त होता है। इससे सम्बन्धित जो कुछ भी स्थल प्राप्त होते हैं, वे व्यापार और वाणिज्य के प्रति कोई उत्साहजनक निष्कर्ष को स्थापित करने में सहायक नहीं प्रतीत होते हैं। वाणिज्य और व्यापार की उन्नति और विस्तार के आंकलन में मुद्राओं का अपना योगदान है। विष्णु पुराण में प्रचलित मुद्रा ''निष्क'' का उल्लेख केवल दो स्थलों पर आया है, वह भी केवल पांचवे सर्ग के अठ्ठाइसवें अध्याय में। द्यूत क्रीड़ा के प्रसंग में रुक्मी द्वारा बलराम से सहस्त्र निष्क जीतने का उल्लेख प्राप्त होता था,[231] दूसरा उदाहरण भी बलराम के ही प्रसंग में है, जब उन्होंने एक करोड़ निष्क दांव पर लगाए थे।[232] सामान्य जन तथा समाज में मुद्रा क प्रचलन की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में पुराण में कोई भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता है जो कि हमें किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचाने पर सहायक हो सके। मुद्राओं से सम्बन्धित प्रसंगों का अत्यन्त सीमित मात्रा में उल्लेख इसी ओर संकेत करता है कि संभवतः आलोचित काल में मुद्राओं का प्रयोग कम हो गया था। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णित है कि ''निष्क'' अपहर्ता व्यक्ति नगक गामी होता है।[233] पाटलिपुत्र, वैशाली, चिरान्द, राजघाट, कौशाम्बी, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, मथुरा तथा पुराना किला तथा हरियाणा में अनेक स्थानों से

जो खुदाई हुई है, उससे पता चलता है कि गुप्त काल से ही नगरों का पतन होना आरम्भ हो गया था तथा उत्तर गुप्त काल में कुछ नगर तो पूरी तरह से समाप्त हो गए थे।[234] नगरों के पतन के कारण ऐसी आर्थिक इकाइयों का विकास हो गया था जो स्वयं पूर्ण थीं। इसलिए गांवों के किसानों को सिक्को के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसलिए मुद्रा के प्रयोग का महत्व कम हो गया।[235]

श्रेणी संगठनः

व्यापारी तथा शिल्पी वर्ग श्रेणियों में संगठित था, श्रेणी संस्था शिल्प विशेष से सम्बन्धित होती थी,[236] अलग-अलग शिल्पों की अलग श्रेणी होती थी। विष्णु पुराण में व्यापारियों तथा शिल्पियों की श्रेणियों के बारे में कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। वस्तुतः आर्थिक प्रगति तथा धनार्जन के प्रति पुराण एक उदासीन रवैया अपनाए हुए प्रतीत होता है। एक स्थल पर यह मत प्रकट किया है कि द्रव्य उपार्जन, रक्षण और नाश में तथा इष्ट मित्रों के विपत्ति ग्रस्त होने पर भी मनुष्यों को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।[237] अर्थ के प्रति निराशाजनक दृष्टिकोण संभवतः तेजी से बदलती हुई राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई होगी क्योंकि राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में विघटनकारी तत्व क्रियाशील थे।

कराधानः

विष्णु पुराण में प्राप्त उदाहरणों से राजाओं द्वारा आलोचित काल में अत्यधिक कर लेने की प्रवृत्ति का पता चलता है, एक स्थल पर वर्णित है कि अति लालुप राजाओं के कर भार को सहन न करने के कारण प्रजा पर्वत कन्दराओं में आश्रय लेगी, तथा मधु, शाक, फल, मूल, पत्र और पुष्प आदि खाकर दिन काटेगी,[238] ब्रह्म पुराण में भी वर्णित है कि कर भार से पीड़ित जनता वनों में आश्रय लेगी।[239] इस प्रकार आलोचित पुराण में कर की अमानवीय अधिकता का परिज्ञान तो होता है परन्तु संग्रहीत करों का स्वरूप क्या था? इस बारे में पता नही चलता। पुराण में एक स्थल पर वार्षिक कर के भुगतान का पता चलता है,[240] तथा यह पता चलता है कि कुछ वस्तुओं के कर का भुगतान मुद्राओं में न होकर, पण्य के रूप में होता था। नन्द द्वारा कंस को छकड़ों में लाए हुए भाण्डों से कर चुकाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[241] करों के प्रकार के बारे में यही उदाहरण पुराण में प्राप्त होते हैं।

बाद के अभिलेखों में विविध प्रकार के करों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे यह संभावना की जा सकती है कि आलोचित काल में भी इसी प्रकार के कर लगाए जाते रहे होगें। अभिलेखों में पत्तों के बोझ पर पचास, पत्तियां तथा माली से पचास माला ग्रहण कर मन्दिर में भेंट किया जाता था।[242] तेलियों के कारखाने से प्रत्येक घाणक से दो पल तेल

मिलता था।[243] इसी प्रकार कर ग्रहण के संदर्भ में प्रतिदिन तेल देने का विवरण प्राप्त होता है।[244] कभी तैलिक श्रेणी से प्रति मास तेल का एक पल लिया जाता था।[245] तैलिक श्रेणियों के अतिरिक्त, यदि साधारण व्यक्ति भी तेल या घी पात्र में रखकर बेचता था तो उसे प्रति तेल कूप (चमड़े का पात्र) दो विंशोपक ''कर'',[246] और घी के विक्रेता को भी प्रति घड़ा, एक ''पल'' टैक्स देना पड़ता था।[247]

इसके अतिरिक्त कुछ अस्थायी करों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। शिवरात्रि के अवसर पर आठ मुद्रा पर व्यक्ति[248] तथा देवयात्रा के अवसरों पर चार ड्रम कर आरोपित करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[249] यही नहीं भोज (दावत) तथा जुआ आदि पर भी करों का उल्लेख प्राप्त होता है।[250]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राय, एस0 एन0 : पौराणिक धर्म एवं समाज पृ0 369

2. अमरकोश 2/9/1 आजीबो जीविका वार्ता ......।

3. कोटिल्य, उद्धत राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास पृ0 12

4. विष्णु पु0 1/6/20

5. वायु पु0 1/100 'त्रेतायुगे चापकर्षाद्धातार्याः संप्रवर्तनम्।

6. मत्स्य पु0 144/24

7. रामा0 अयोध्या कांड 100/47

8. महा0 3/150/30

9. दशकुमार चरित, द्वितीय उच्छ्वास पृ0 28

10. विष्णु पु0 1/12/27

11. वही 5/20/25

12. शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म, पृ0 2

13. यादव, बी0 एन0 एस0, सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया (इन ट्वलत्थ सेंचुरी एडी) पृ0 136

14. शर्मा, वही पृ0 24-25

15. यादव, वही पृ0 137

16. ब्रह्माण्ड पु0 4/14/10

17. वही 3/27/13

18. मत्स्य पु0 254/16-36

19. द्रष्टव्य 'तिथि' विषयक अध्याय में पाद टिप्पणी

20. विष्णु पु0 3/2/54

21. वही 1/22/10-14

22. द्रष्टव्य धर्म विषयक अध्याय, में लोकपालों का वर्णन

23. वही 1/14/43

24. वही 3/11/31

25. वही 4/24/93 - इत्येवमनेकदोषोत्तरे तु भूमण्डले सर्ववर्णेष्वेव यो तो बलवान्स स भूपतिर्भविष्यति।

26. वही 6/1/35

27. अग्रवाल, बी0 एस0 : मत्स्य पुराण - अ स्टडी, एपेन्डिक्स।

28. कुमार स्वामी आनन्द : स्प्रिचुअल अर्थारिटी एण्ड टेम्पोरल पावर इन इण्डियन थिअरी आफ गर्वमेंट, पृ0 68, तथा पाद टिप्पणी 50

29. महा पु0 37/143

30. वही 35/244

31. विष्णु पु0 4/12/3

32. विल्सन : विष्णु पुराण भाग-2, पृ0 589

33. वायु पु0 57/68-71

34. मत्स्य पु0 142/59-61

35. वही 142/63-64

36. वही 142/65

37. आइ0 ए0 1010, पृ0 214

38. जायसवाल, के0पी0, हिन्दू पालिटी (भाग-2) पृ0 173

39. मिलिन्दपन्ह, उद्धत, राधाकृष्ण चौधरी, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पृ0 49

40. मनु0 9/44

41. आ0 मु0 सि0 जु0 वो, 3, भाग-2, पृ0 486-487

42. मजूमदार, आर0 सी0, कारपोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 186

43. अल्टेकर, ए0 एस0, वाकाटक गुप्त एज, पृ0 333

44. घोषाल, यू0 एन0, इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर एस्सेज, पृ0 164

45. बार्नेट, एल0 डी0, जे0 आर0 ए0 एस0 1931, पृ0 191

46. बाशम, ए0 एल0, वन्डर दैट वाज इण्डिया पृ0 191

47. विष्णु पु0 5/30/45-46

48. वही 5/30/47

49. वही 1/13/89 प्राणादाता स पृथुर्यस्मान्दूमेरभूत्पिता।

ततस्तुपृथिवीसंज्ञामवापखिलधारिणी।

50. उपर्युक्त श्लोक पर श्रीधर की व्याख्या विष्णु पुराण खण्ड 1, पृ0 110

51. विष्णु पु0 4/24/134

52. विष्णु पुराण

53. द्रष्टव्य प्रथम अध्याय

54. झा, द्विजेन्द्र नारायण : मौर्योत्तर तथा गुप्तकालीन राजस्व व्यवस्था, पृ0 27

55. विष्णु पु0 1/4/20

56. वही पृ0 1/8/19

57. श्रीधर की उपयुर्क्त श्लोक पर व्याख्या – भूधरो गिरिर्भूधरोहरिः

58. विष्णु पु0 5/33/53

59. कारम्बेलकर, द अर्थवन् सिवलाइजेशन, पृ0 59

60. ऋग्वेद 3/17

61. कौ0 ब्रा0 51/17

62. समद्दार, जे0 एन0, इकानामिक कन्डीशन इन इशियन्ट इण्डिया पृ0 71

63. मत्स्य पुराण, दशम् अध्याय

64. विष्णु पु0 1/13/81

65. वही 1/13/81

66. वही 1/13/84

67. वही 1/13/50

68. हर्षचरित, सातवां उच्छ्वास पृ0 405-407

69. सरकार : से ई0, वैन्यगुप्त का गुणयगढ़ दानपत्र पृ0 341-43

70. गोयल श्रीराम गुप्तकालीन अभिलेख पृ0 311, पंक्ति 7-8

71. वही, नन्दपुर ताम्र पत्र लेख, पंक्ति 2, पृ0 296

72. एपि0 इण्डि0 15, पृ0 307

73. फ्लीट पृ0 164

74. वही, पृ0 171

75. गोयल, वही पृ0 297, नन्दपुर का ताम्रपत्र लेख, पंक्ति 13

76. रघुवंश, 5/8-9 अभिज्ञान शाकुंतलम् अंक-2

77. विष्णु पु0 3/8/30

78. वही 5/10/26

79. विष्णु पु0 5/10/29

80. वही 5/10/37

81. वही 5/10/29 - कर्षकाणां कृषिर्वृत्तिः ।

82. विष्णु 2/5/28 - लांगलासक्त हस्ताग्रो ....।

83. वही 4/5/28 - तस्यपुत्रार्थ यजनभुवं कृषतः सीरे।

84. वही 5/10/37 - सीरयज्ञाश्च कर्षकाः।

85. ऋ खि0 4/13/2-3

86. अथर्वेद 10/6/44

87. जो0 खोंदा - आसपेक्ट्स ऑफ अर्ली वैष्णवइज्म, पृ0 133

88. डांगे, ए0 एस0 : पेस्टोरल सिम्बालिज्म फाम दि ऋग्वेद, पृ068

89. रामायण, अयोध्या काण्ड 2/1181/28-29

90. विष्णु पु0 4/5/28 - तस्य पुत्रार्थ यजनभुवं कृषतः सीरे।

91. वायु पु0 94/24 - स एवं पशुपालोऽभूत क्षेत्रपालस्तथैव च ब्रम्हाण्ड पृ0 3/69/24, मत्स्य पु0 43/27

92. कारम्बेलकर : वही पृ0 59

93. एपिग्राफिका इण्डिका, दामोदर प्लेट पृ0 115

94. इण्डियन एन्टिक्वेरी xxxxix, धर्मादित्य का फरीदपुर ताम्रपत्र लेख, पृ0 196, बृहस्पति स्मृ0 23/5

95. मनु0 11/141-42 पर भारूचि भाष्य, जे0 डी0 एम0 डेरेट का अनुवाद और व्याख्या

96. विष्णु पु0 2/7/37

97. चरक संहिता, सुत्रस्थान, अन्नपानविध्यध्यायः 27/8-11

98. मत्स्य पु0 96/4 - अष्टादशनां धान्यानामवद्यं फलमूलकैः ।276/7, 277/11

99. याज्ञवल्क्य स्मृ0 1/208, परअपरार्क का भाष्य व्याकरण महाभाष्य 5/2/4, हेमचन्द्र का अभिधान चिन्तामणिमाला पर भाष्य, 233

100. अग्नि पुराण 168/22

101. विष्णु पु0 1/6/27

102. वही 2/8/105

103. वही 2/9/18

104. वही 2/9/19

105. वही 2/9/21-22

106. विष्णु पु0 5/10/19-22

107. विष्णु पु0 4/13/26

108. वही 4/13/115

109. वही 4/13/116

110. वही 6/1/24-25

111. वही 6/1/24-25

112. मत्स्य पु0 144/80-82

113. वही 144/80-81

114. कूर्म पु0 27/45

115. कूर्म पु0 27/54-55

116. विष्णु पु0 2/13/46-47

117. वही 2/13/51

118. वही 1/13/52

119. वही 3/13/55

120. वही 3/13/55

121. श्रीधर विष्णु पु0 भाग 1, पृ0 269 – विष्टिर्निमूल्य कर्म, तत्र योग्यम्।

122. शर्मा : शूद्राज इन एंशियन्ट इण्डिया, पृ0 281-82

123. शास्त्री ए0 एम0 : इण्डिया एज सीन इन द वृहत्संहिता ऑफ वाराहमिहिर, पृ0 16

124. गोपाल, लल्लन जी, उद्धत, पृ0 27-28

125. यादव, वी0 एन0 एस0, प्रेसिडेंसियल एड्रेस पृ0 16

126. वही पृ0 20

127. भागवत 5/9/9 - कमाणि च स कार्यमाण : परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा पांचया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरित परं नेन्द्रियप्रातिनिमित्तम्।

128. वही 5/9/11 - यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमान : स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपिस्तदपि करोकि किन्तु न समं विषमं न्यूनमधिकामिति वेद कणपिण्याकफलीकरण कुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदम्यवहरति।

129. विष्णु पु0 2/13/35

130. वही 2/13/45

131. विल्सन, विष्णु पु0 भाग - 1, पृ0 355

132. द्रष्टव्य पाद टिप्पणी 196

133. विष्णु पु0 2/13/61

134. विष्णु पु0 3/8/30

135. वही 5/10/26

136. वही 5/10/29

137. महा0 वन0 113/16

138. वही 5/10/36

139. वही 5/10/37

140. वही 5/10/44

141. वही 5/10/44, हरिवंश, विष्णु पर्व 16/13

142. नीलकंठ शास्त्री : एज ऑफ नन्दाज एण्ड मौर्याज पृ0 370

143. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य अजय मित्र शास्त्री, कौशाम्बी होर्ड ऑफ मघ कायंस, पृष्टांक 29 तथा अनुवर्ती पृष्ठ

144. जान एलन : कैटलाक ऑफ कायंस ऑफ गुप्ता डाइनेस्टीज एण्ड सशांक किंग ऑफ गौड़ाज, पृ0 151-2, प्लेट, 11-12

145. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-III, जिल्द-II, पृ0 1396

146. न्यूमेस्मेटिक क्रानिकल, 1968, पृ0 189 तथा आगे

147. चट्टोपाध्याय, बी0 डी0 : कायंस एण्ड करेन्सी सिस्टम्स इन साउथ इण्डिया, पृ0 191

148. वही पृ0 64-65

149. मनु स्मृति 4/219

150. वही 8/65

151. विष्णु 1/15/119

152. वही 1/15/20

153. वायु पु0 66/28-30

154. विष्णु पु0 2/12/26-27

155. अमरकोश 9, 10

156. वही 3, 189

157. वही 9, 19, बृहत्संहिता 5/75, 25/2

158. वही 9/20

159. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक 4

160. फ्लीट : स्कन्दगुप्त का इंदौर लेख, पृ0 70, 8

161. सरकार से0 इ0, स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र लेख पृ0 गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, पृ0 261

162. महा0 अनु0 98/51

163. ए0 इ0 1, पृ0 160

164. विष्णु पु0 3/7/16

165. वही 6/1/17

166. विष्णु पु0 1/9/104

167. वही 5/9/19 मुकुटाटोपमस्तकम् ... ।

168. वही 5/6/32 बर्हिपत्रकृतापीडौ ।

169. वही 5/18/41 स्फुरन्मकरकुण्डलम् 5/34/18 किरीटकुण्डलमधरं

170. वही 1/22/68 – विभर्ति कौत्सुभमणिरूपं भगवान्हरिः।

171. वही 5/13/51, 5/18/13

172. वही 4/15/13

173. वही 4/15/13 केयूरहारकटकादिशोभितः...।

174. वही 6/7/85 मुद्रिकारन्त भूषितम्

175. मोती चन्द्र : भारतीय भेष-भूषा, पृ0 184

176. बृहस्प0 स्मृ0 संस्कार श्लोक 101

177. अमरकोश 2/6/103 – कुण्डलम् कर्णवेष्टनम्।

178. महा0 पु0 3/78, 3/102, 4/177, 16/33, 9/190, 33/124

179. महा पु0 16/57

180. वही 16/58, हरिवंश (जैन पु0) 7/89

181. वही 16/58

182. वही 16/58

183. वही 16/59

184. वही 16/59

185. वही 16/60

186. वही 16/61

187. शास्त्री, नेमिचन्द्र : आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृ0 216

188. वा0 सं0 30/7/17

189. दास (बाजपेयी) कल्याणी, अर्ली इन्सक्रिप्सन्स ऑफ मथुरा, पृ0 119-20

190. बन्धोपाध्याय, एन0 सी0 इकोनामिक लाइफ प्रोग्रेस इन एंशियन्ट इण्डिया, भाग-1, पृ0 154-55

191. सौनदरानंद 16/65

192. विष्णु 33/42

193. मनु 11/55, 3/257

194. विष्णु पु0 2/6/8

195. वही

196. ओशनस स्मृति, काणेः हि0 घ0 शा0, भाग-3, पृ0 934 पर उद्धत

197. गोपाल, लल्लन जी, द इकॉनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ0 219

198. वही

199. विष्णु पु0 1/9/128

200. वही 6/1/17 - सुवर्णमणिरलादी ...।

201. वही 1/22/68

202. वही 4/13/19

203. कादम्बरी (काले) पृ0 242

204. रायडर, डी0 सी0, वही पृ0 171

205. बी0 एस0

206. रायडर, वही पृ0 201

207. हर्ष चरित, पृ0 48

208. वही पृ0 117

209. वही पृ0 140

210. काद0 पृ0 19

211. वार्ट्स 1, पृ0 178

212. वही पृ0 178, हर्ष 230

213. विष्णु पु0 6/6/13-20

214. वायु पु0 25/32 कृष्णजनोत्तरासंगन्ददृशऊन्तर्जले हरिम्।

215. मत्स्य 144/72

216. विष्णु पु0 4/24/96 वल्कलपर्णचीरप्रावरण .... ।

217. वही 3/9/20 चर्मकाश कुशैः कुर्यात्परिधानोत्तरीयके ।

218. ताकाकाशुः वही पृ0 68

219. विष्णु पु0 5/17/21 - विभ्राणवाससी पीते .... ।

220. वही 518/38 – दधान मसिते वस्त्रे .... ।

221. वही 4/15/13 – उज्ज्वलपीतवस्त्रधार्य ... ।

222. वही 6/7/83 पीतनिर्मलवाससम्

223. जातक 351

224. ल्यूडर्स लिस्ट नं0 1137

225. विष्णु 2/6/27 – में चापाकेषु वह्दिाः

226. ए0 घोष तथा के0सी0 पाणिग्रही एशियंट इण्डिया भाग 1, पृ0 37

227. देसाई, देवागंना, एशियंट इण्डियन टेरीकोटाज, हिस्ट्री एण्ड सोसाइटी, एस्सेज इन आनर ऑफ प्रोफेसर निहार रंजन रे, सम्पादित डी0 पी0 चट्टोपाध्याय, पृ0 163

228. शर्मा, आर0 एस0, इण्डियन फ्यूडलिज्म पृ0 127

229. देसाई, देवागंना, वही पृ0 164

230. यादव, बी0 एन0 एस0, सो0 क0 ना0 इ0 पृ0 266

231. विष्णु पु0 5/28/13 सहस्त्रमेकं निष्काणां रुक्मिणां विजितो बल।

232. वही 5/2/18 ... निष्क कोटिं समाददे ।

233. वायु पु0 101/160, ब्रह्माण्ड पु0 4/2/162

234. शर्मा, आर0 एस0, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू भाग 1, 1974, पृ0 5

235. शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्मः लग0 300-1200, पृ0 63-65

236. शर्मा, वही पृ0 67

237. तान् चांग 'एश्येंट चाइनीज क्रेस्ट फार इण्डियन प्रोड्क्टस, दि सनडे स्टेट्समैन, मैगजीन सेक्शन, 6 अप्रैल 1999

238. विष्णु पु0 6/2/26

239. वही 6/5/54

240. वही 5/5/6 - शकटारोपितैर्भाण्डैः करं दत्वा ....।

241. उपाध्याय वासुदेव, प्रा9 भा9 अ9, पृ0 167

242. मनु0 10/120 पर भारूचि की टीका

243. वही

244. वही पृ0 35

245. वही 1, 177

246. वही 1, पृ0 160

247. वही, पृ0 240

248. वही पृ0 309

249. वही पृ0 309

250. वही पृ0 309
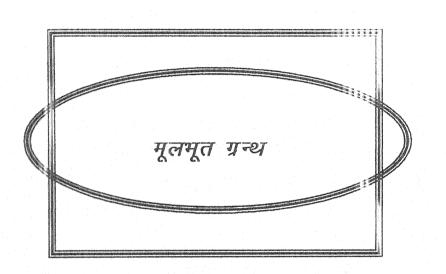
मूलभूत ग्रन्थ

मूलभूत ग्रन्थ

1.	आशवलायन गृहसूत्र	मा0 म0 गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम 1923
2.	आपस्तंब धर्मसूत्र	हलस्यनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित, कुम्भकोणम्, 1895
3.	अष्टादश स्मृति	पं0 मिहिर चन्द्र, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण, दिल्ली 1440
4.	अग्नि पुराण	पंचनन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।
5.	अथर्ववेद	आर0 रॉथ तथा डब्ल्यू0 डी0 ह्विटनी द्वारा सम्पादित, बर्लिन 1924
6.	अभिज्ञानशकुन्तलम्	सतीशचन्द्र बसु द्वारा सम्पादित, बनारस 1897
7.	अमरकोश	वी0 ढलकीकर द्वारा सम्पादित, बंबई 1907
8.	उत्तररामचरित	पी0 वी0 काणे द्वारा सम्पादित, बंबई 1929
9.	उत्तरगीता, गौडपाद भाष्य सहित	श्रीवानी विलास प्रेस द्वारा सम्पादित, श्रीरगम वि0 स0 1926
10.	एतरेय ब्राह्मण	हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित

11. ऋतुसंहार — बंबई, 1922

12. कथासरित्सागर — दुर्गा प्रसाद द्वारा सम्पादित, बंबई 1920

13. कात्यायन श्रौतसूत्र — लन्दन, 1855

14. कादम्बरी — मथुरानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1948

15. कामसूत्र — दुर्गा प्रसाद द्वारा सम्पादित, बंबई

16. कालिका पुराण — बंबई, शकाब्द, 1829

17. काव्यमीमांसा — सी0डी0 दलाल द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, 1917

18. कुमारसम्भव — भारद्वाज गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित, बनारस

19. कूर्म पुराण — काशीराज ट्रस्ट, रामनगर, वाराणसी 1972

20. कौटिल्य अर्थशास्त्र — आर0 श0 शास्त्री द्वारा सम्पादित, मैसूर 1924

21. गरुड़ पुराण — क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा सम्पादित, बंबई 1906

22. गोपथ ब्राह्मण — कलकत्ता, 1872

23. गौतम धर्मसूत्र — हरदत्त - भाष्य के साथ, हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1910

24. गौतम धर्मसूत्र — हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, पूना 1910

25. चारुदत्त — म0 म0 गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, 1914

26. चरक संहिता — सम्पादित, राजेश्वर दत्त शास्त्री, नवम संस्करण, वि0 सं0 2037

27. छान्दोग्य उपनिषद — हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1913

28. जातक — बी फसबल द्वारा सम्पादित, लन्दन 1977-97

29. जयाख्यसंहिता — एंवर कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, भाग 54, बड़ौदा, 1934

30. तैत्तरीय संहिता — कलकत्ताख 1854

31. तैत्तरीय आरणयक — सायण भाष्य सहित, हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित पूना, 1898

32. तीर्थचिन्तामणि — कमल कृष्णस्मृतितीर्थ द्वारा सम्पादित तथा एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1912 सायण भाष्य सहित हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1898

33. दशकुमार चरित — काले द्वारा सम्पादित बंबई 1917

24. गौतम धर्मसूत्र — हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, पूना 1910

25. चारुदत्त — म0 म0 गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, 1914

26. चरक संहिता — सम्पादित, राजेश्वर दत्त शास्त्री, नवम संस्करण, वि0 सं0 2037

27. छान्दोय उपनिषद — हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1913

28. जातक — बी फसबल द्वारा सम्पादित, लन्दन 1977-97

29. जयाख्यसंहिता — एंवर कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, भाग 54, बड़ौदा, 1934

30. तैत्तरीय संहिता — कलकत्ताख 1854

31. तैत्तरीय आरणयक — सायण भाष्य सहित, हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित पूना, 1898

32. तीर्थचिन्तामणि — कमल कृष्णस्मृतितीर्थ द्वारा सम्पादित तथा एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1912 सायण भाष्य सहित हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1898

33. दशकुमार चरित — काले द्वारा सम्पादित बंबई 1917

34.	देवी भागवत	कमलकृष्ण स्मृतिभूषण द्वारा सम्पादित, विवलोथेका इण्डिका, कलकत्ता, 1903
35.	नवसाहसांकचरित्:	वामन शास्त्री द्वारा सम्पादित, बंबई 1995
36.	नैषधीयचरित	चौखम्बा, वाराणीस, 1977
37.	पद्म पुराण	हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1893
38.	पराशर स्मृति	मध्वाचार्य भाष्य सहित बाम्बे संस्कृत सीरीज, बंबई, 1893-1911
39.	बृहस्पति स्मृति	बड़ौदा, 1941
40.	ब्रह्मसूत्र, शंकराचार्य	भाष्य तथा गोविन्दानन्द की टीका के साथ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, 1963
41.	ब्राह्माण्ड पुराण	क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई 1906
42.	बौधायन धर्मसूत्र	श्रीनिवासाचार्य द्वारा सम्पादित, मैसूर, 1907
43.	भागवत पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर सं0 2033
44.	भासनाटक चक्र	सी0 आर0 देवधर द्वारा सम्पादित, पूना
45.	मनुस्मृति	सम्पादित जे0 के0 दवे, बंबई, 1982

46.	महाभारत	गीताप्रेस गोरखपुर, 2044
47.	महाभाष्य	एफ0 कीलहार्न द्वारा सम्पादित, बंबई
48.	मानसार	पी0 के0 आचार्य द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड
49.	मालविकाग्निमित्र	एस0 कृष्णराव द्वारा सम्पादित, मद्रास, 1930
50.	मालतीमाधव	चौखम्बा, वाराणसी 1971
51.	मार्कण्डेय पुराण	क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई
52.	मेघदूत	एस0 के0 डे, दिल्ली, 1980
53.	मुद्रा राक्षस	आर0 के0 ध्रुव द्वारा सम्पादित, पूना 1930
54.	याज्ञवल्क्य स्मृति	वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री द्वारा सम्पादित, बंबई 1926
55.	रघुवंश	शंकर पण्डित द्वारा सम्पादित, गवर्नमेन्ट सेन्ट्र बुक डिपो द्वारा प्रकाशित, 1897
56.	वायु पुराण	हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित पूना 1905
57.	विष्णु धर्मसूत्र	पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित, बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि0 सं0 1316
58.	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

59. विष्णु पुराण — गीता प्रेस, गोरखपुर

60. विष्णु पुराण — भाग-1 एवं 2 श्रीधरस्वामी व्याख्याकृत, दिल्ली 1987

61. शतपथ ब्राह्मण — ए0 बेबर द्वारा सम्पादित, 1924

62. शिशुपालबध — निर्णय सागर प्रेस, बंबई

63. स्मृति तत्व — जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, मैसूर, 1914-21

64. हरिवंश — बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि0 सं0 1312

65. हर्षचरित — जगन्नाथ पाठक, वाराणसी 1978

आधुनिक ग्रन्थ

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद 1964
2. अग्रवाल, वासुदेव शरण मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद 1961
3. अग्रवाल, वासुदेव शरण कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1970
4. अवस्थी, रामाश्रय खजुराहो की देव प्रतिमाएं, आगरा 1967
5. उपाध्याय, बलदेव पुराण विमर्श, वाराणसी
6. उपाध्याय, वासुदेव प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पटना 1970
7. ओझा, मधुसूदन पुराणनिर्माणाधिकरणम् तथा पुराणोत्पति प्रसंग, जयपुर सं0 2009
8. उपाध्याय प्राचीन भारतीय अभिलेख, पटना 1970
9. उपाध्याय भगवत शरण गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, हिन्दी समिति, लखनऊ 1969
10. अल्टेकर, ए0एस0 प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद 1959
11. कीथ, ए0 बी0 संस्कृत नाटक (हिन्दी संस्करण) वाराणसी 1971

12. गोयल, श्रीराम गुप्तकालीन अभिलेख, मेरठ 1984

13. गैरोला, वाचस्पति भारत वर्ष के उत्तरार्द्ध पूर्व में सीमान्त देश, लखनऊ 1980

14. चन्द्र, रायगोविन्द प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा (एक अध्ययन) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी 1964

15. चौधरी राधाकृष्ण प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, दिल्ली 1985

16. झा, द्विजेन्द्र नारायण मौर्योत्तर तथा गुप्तकालीन राजस्व व्यवस्था, नयी दिल्ली 1977

17. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, लखनऊ 1965

18. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ 1976

19. पाण्डे, वीणापाणि हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, लखनऊ 1960

20. पाठक, विशुद्धानन्द, उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, लखनऊ 1973

21. पाठक, सर्वानन्द विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, 1967

22. बाजपेयी, के0 डी0 भारतीय व्यापार का इतिहास, प्राचीन भारत में संगठित जीवन, जबलपुर 1966

23. डा0 मोतीचन्द्र सार्थवाह, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1966

24. मिराशी, विष्णु वासुदेव प्राच्य निबंधावली भोपाल, 1974

25. विण्टरनित्स, प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी संस्करण), वाराणसी 1966

26. द्विवेदी, हजारी प्रसाद प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, बम्बई, 1952

27. मिश्र, सच्चिदानन्द, प्राचीन भारत में ग्राम्य एवं ग्राम्य जीवन, गोरखपुर 1984

28. मिश्र, श्याम मनोहर, दक्षिण भारत का इतिहास, लखनऊ, 1985

29. राव, उदय नारायण, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद 1965

30. राय, एस0 एन0, पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद

31. वेदालंकार, हरिदत्त, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, लखनऊ 1970

32. शास्त्री नेमिचन्द्र, महाकवि भास, भोपाल 1972

33. शास्त्री नेमिचन्द्र, आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी 1968

34. शुक्ल, द्विजेन्द्र नारायण, भारतीय स्थापत्य हिन्दी समिति, लखनऊ 1968

35. जोशी, नी0 पु0, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पटना

36. संकालिया, हंसमुख (सम्पादक) – प्राचीन भारत, नई दिल्ली 1978

37. सिंह, रणजीत धर्म की हिन्दू अवधारणा, नयी दिल्ली, 1978

38. श्रीवास्तव, बलराम रूपमण्डल, वाराणसी सं0 2021

39. अत्रिदेव सश्रुत संहिता (अनुवाद), वाराणसी 1968

40. स्कालास्तिका, कजूर वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी, वाराणीस 1982

1. Agarwala, V.S. Gupta Art, Lucknow 1947

2. Agarwala, Matsya Puran A Study, Kashi Raj Trust, Ram Nagar, Varanasi, 1963

3. Ali S.M. – The Geography of Purasns, New Delhi 1966

4. Altekar, A.S. – The Coinage of Gupta Empire, Varanasi, 1957

5. Allegro, John – The Dead Sea Scrolls, Penguin, 1975

6. Altekar, A.S. – State and Government in Ancient India

7. Bajpai, K. Das – Early inscriptions of Mathura – A Study, Calcutta 1980

8. Bagchi, P.C. – India and Central Asia, Calcutta 1955

9. Bagchi, P.C. – India and China, New York, 1951

10. Banerjee, J.N. – Development of Hindu Iconography Calcutta, University Press 1956.

11. Basham, A.L.A. – Cultural History of India, Oxford University Press, 1975

12. Bhatacharya, Haridas (Ed) – The Cultural Heritage of India, Vol. IV, Calcutta, 1983

13. Bose, Major D.D. – The Sacred Books of the Hindus (Matsya Puran) Vol. XVII – Part I & II, Allahabad, 1916

14. Chattopadhyay, Bhaskar – Kushana State and Indian Society – A Study in Post Mauryan Polity and Society, Calcutta, 1975

15. Chakravarti – Art of the War in Ancient India, Dhaka 1941

16. Chanana, D.R. – Slavery in Ancient India, New Delhi 1985

17. Coomarswamy, A.K. – History of Indian and Indonesian Art, New Delhi 1972

18. Derrett, J.D.M., Bharuchis Commentary on Manusmriti Vol. I & II, ieshaden, 1975

19. Dutt, N. – Aspects of Mahayana Buddhism and its Relation to Hinayana, London 1930

20. Elisseeff, GASTON WIET VADIME & PHILI PPE WOLF JEAN NAUDOU – The Great Medieval Civilisations, Vol. I, UNESCO London 1975

21. Freud – New Introductory Lectures on Psychoanalyses, London 1952

22. Ghoshal, UN – Studies in Indian History and Culture, London 1956

23. Gafurav B. (Ed) Kushana Studies in USSR (Vol. I & II) MOCKBA, 1974

24. Ghosh, A. – The City in Early Historical India, Simla 1979

25. Gopal, Lallan Ji – Aspects of History of Agriculture in Ancient India, Varanasi 1980

26. Gupta, Parmanand : Geography in Ancient Indian Inscriptions, New Delhi 1973

27. Hazra, R.C. – Studies in Uppuranas, Calcutta 1960

28. Jaiswal, S. – The Origin and Development of Vaishvanism (Vaisnavism from 200 B.C. to A.D. 500), Delhi 1967

29. Joshi, N.P. – Iconography of Balram, Delhi 1979

30. Joshi, N.P. – Mathura Art, New Delhi 1976

31. Kane, P.V. History of Dharmasastra, Poona, 1973

32. Karambelkar, V.W. – The Atharvavedic Civilization, it's Place in Indo Aryan Culture, Nagpur, 1959

33. Kasamlic, D.D. – Introduction to the Study of Indian History, Bombay 1956

34. Law, N.N. – Some Aspects of Hindu Indian Polity, Bombay 1960

35. Law, B.C. – Historical Geography of Ancient India, Paris 1947

36. Maclver, R.M. and CH Page – 'Society', London 1953

37. Maity, Sachindra Kumar - Economic Life of Ancient India, New Delhi 1970

38. Mukerjee, B.M. - Kushana Coins in the Land of Five Rivers, Calcutta 1979

39. Mazumdar, R.C. and Altekar, A.S. – The Vakataka Gupta Age, New Delhi 1960

40. Prabhu, P.H. – Hindu Social Organization, Bombay 1963

41. Prasad, Beni – State in Ancient India, Allahabad 1927

42. Pandeya, G.C. – Spiritual Vision and Symbolic Forms in Ancient India, Delhi 1990

43. Pandeya, L.P. – Sun Worship in Ancient India, New Delhi 1971

44. Prasad, Kamleshwar – Cities Crafts and Commerce under Kusanas, Delhi 1984

45. Pargiter, F.E. – The Puranic Text of the Kali Age, Varanasi 1962

46. Pargiter, F.E. – Ancient Indian Historical Tradition, New Delhi 1976

47. Pathaki, V.S. – Ancient Historians of India, Gorakhpur 1984

48. Prasad, Durga – The Silver Punch Marked Coins, Benaras 1931

49. Pusalkar, A.D. – Studies in Epics and Puranas, Bombay 1952

50. Rao, Gopinath : Elements of Hindu Iconography, New Delhi, 1969

51. Ray, S.N. : Histories and Cultural Studies of Puranas, Allahabad, 1978

52. Rai, G.K. : Involuntary Labour in Ancient India, Allahabad, 1981

53. Radha Krishnan, S. : Indian Philosophy – Oxford University Press, Delhi 1990

54. Samaddar, J.N. : Economic Condition of in Ancient India, Calcutta 1922

55. Sharma, R.S. : Indian Feudalism, New Delhi 1980

56. Sharma, R.S. : Light on Early Indian Society and Economy

57. Sharma, R.S. : Material Culture and Social Formations in Ancient India, Delhi 1983

58. Sharma, R.S. : Shudras in Ancient India, Delhi

59. Sharma, R.S. : The Urban Decay in India (E. 300-C 1000) New Delhi 1987

60. Sastri, K.A.N. : Age of Nandas and Mauryas, Benaras 1952

61. Sharma, B.N. : Social Life in Northern India, Delhi 1966

62. Sharma, P.V. : Fruits and Vegetables in Ancient India, Varanasi 1979

63. Sen, Mohit (Ed) Das Kapital Centenary Volume A Symposium, Delhi 1968

64. Sircar, D.C. : Select Inscriptions Vol. I Calcutta 1965

65. Sircar, D.C. : Indian Epigraphy, New Delhi 1965

66. Sircar, D.C. : Indian Epigraphy Glossary, Delhi 1966

67. Shastri, A.M. : India as Seen in the Brihatsamhita of Varahamihira, Delhi 1969

68. Srivastava, V.C. : Sunworship in Ancient India, Allahabad 1972

69. Sharma, C.D. : Indian Philosophy

70. Shastri Heramba Chatterjee : Forms of Marriages in Ancient India, Calcutta 1972

71. Shastri Heramba Chatterjee : Studies in Some Aspects of Hindu Samiskara Calcutta 1965

72. Sinha, B.P. : The Decline of the Kingdom of Magadha Patna 1954

73. Thakur, Upendra : Some Aspects of Ancient Indian History and Culture, Delhi 1974

74. Upadhyay, B.S. : India in Kalidas, Delhi 1968

75. Vogal, J. Ph : Indian Serpent Lore (Naga worship in Kushana Period), London 1926

76. Wheelear, REM : The Indus Civilization – Supplementary Volume. The University Press, 1958

77. Yadava, B.N.S. : Society and Culture in Northern India in Twelfth Century, Allahabad 1973

78. Weber, Max : Essays in Sociology, Oxford University Press, New York 1946

79. Water, A. Fair Service Junior : The Roots of Ancient India, London 1975

80. Wilson, H.H. : Vishnu Purana System of Hindu Mythology and Tradition, Delhi 1980

प्राच्य विद्या की महत्वपूर्ण पत्रिकाएं

1. American Anthropologist
2. American Historical Review
3. Ancient India
4. Ancient Pakistan
5. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute
6. Annual Report on Indian Epigraphy
7. Annual Report on South Indian Epigraphy
8. Antiguity
9. Archaeological Survey of India
10. Archaeological Survey of India, Annual Reports
11. Archaeological Survey of Western India
12. Ashutosh Mookerjee Silver Jubilee Volume, 3 Volumes in 4 Parts, Calcutta, 1922-28
13. Epigraphia Carnatica
14. Epigraphia Indica

15. Indian Antiquary

16. Indian Archaeology, a Review

17. Indian Culture

18. Indian Historical Quarterly

19. Indian Historical Review

20. Journal of the American Oriental Society

21. Journal of Asian Studies

22. Journal of the Asiatic Society of Bengal

23. Journal of Bihar and Orissa Research Society

24. Journal of Bihar Research Society

25. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society

26. Journal of the Economic and Social History of the Orient

27. Journal of the Epigraphical Society of India

28. Journal of the Gangapath Jha Research Institute

29. Journal of Numismatic Society of India

30. Journal of Oriental Institute, Baroda

31. Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland

32. Our Heritage

33. Poona Orientalist

34. Proceedings of the Indian History Congress

35. Proceedings of the International Congress of Orientalist

36. Purana (Half Yearly Bulletin of the Purana Department, All India Kashiraj Trust), Varanasi

****